ओ३म्

त्रिदेव-निर्णय

लेखक

पण्डित शिवशङ्कर शर्मा 'काव्यतीर्थ'

सम्पादक

परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशकीय

मानव बुद्धि असीम होते हुए भी ससीम है। जहाँ इसका चिन्तन असीमित है वहीं इसकी एक सीमा है, जहाँ पहुँचकर यह किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में पहुँच जाती है। वहाँ इसे कुछ सूझता नहीं तब यह भगवान् भरोसे अथवा 'ऐसा ही होता है या ऐसा ही होता होगा', कहकर अपना काम निकालती है।

मानव ने जब इस संसार-चक्र पर वेदों से हटकर विचार करना प्रारम्भ किया तब इसके समक्ष अनेक समस्याएँ आ खड़ी हुईं, जिनका कोई समाधान इसके पास नहीं था। फिर इसमें के एक वर्ग ने अपनी सुख-सुविधा को दृष्टिगत कर, बहुसंख्यक समूह को, जो विद्या की दृष्टि से इस वर्ग पर आश्रित ही नहीं था, बल्कि इसकी प्रत्येक बात का अन्धानुकरण करता था, भटकाना प्रारम्भ किया।

वेदों में वर्णित ईश्वर के कार्यों का ज्ञान समाप्त हो गया। अपने से बलवान् का सान्निध्य प्राप्त करने की सहज मानवीय वृत्ति के अन्तर्गत सर्वोपरि ईश्वर के प्रति मानव ने उससे कुछ प्राप्त करने की चाहना से उसको प्रसन्न करने के उपाय प्रारम्भ किये। इसी वृत्ति का लाभ उठाकर एक ईश्वर के स्थान पर अनेक देवताओं की कल्पनाएँ कर ली गईं। जिसे जिसकी चाहना थी उसके लिए उसी चाहना की पूर्ति करनेवाले देवता की पूजा-अर्चना के लिए कहा गया। इच्छापूर्ति न होने पर विधि या भावना में कमी को कारण बताकर फिर यत्न करने के लिए कहा गया। इसके मूल में यह भावना भी रही कि सर्वगुणसम्पन्न परमेश्वर की उपासना करने के लिए मन, वचन, कर्म की पवित्रता नहीं होने के कारण कुछ भी करो, बदले में इसकी पूजा-अर्चना करो और सब क्षमा तथा इच्छित की प्राप्ति। परमपिता परमात्मा के गुणवाचक नामों को ही पृथक्-पृथक् देवताओं के रूप में स्थापित कर उनकी अलग-अलग पूजा-विधियाँ प्रारम्भ हो गईं। इस चक्रव्यूह में मानव ऐसे फँसा कि निकल ही नहीं पा रहा है।

ऋषिराज दयानन्द के द्वारा निर्दिष्ट पथ के अनुगामी पं० शिवशंकर शर्मा 'काव्यतीर्थ' ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि नामधारी देवों का विस्तृत विवेचनात्मक अध्ययन इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है। मानव-कल्याण को दृष्टि में रख इस विषय पर लिखी गई यह पुस्तक जिज्ञासु अध्येताओं को निश्चय ही दिव्यदृष्टि प्रदान करेगी।

इस पुस्तक के प्रकाशन में हमारे पाठकों का विशेष योगदान रहा है,

जिन्होंने हमारे द्वारा प्रकाशित पण्डितजी की कृति 'जाति-निर्णय' को पढ़कर निरन्तर हमें इसे छापने की प्रेरणा की। पूज्य स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द सरस्वती ने इसे शुद्ध व सुन्दर बनाने में जो श्रम किया है वह किसी प्रशंसा का इच्छुक नहीं, अपितु देव दयानन्द के मिशन के प्रति समर्पण का ही परिचायक है। हमारे आत्मीय भाई श्री रमेशकुमारजी ने इसकी सुन्दरता के लिए विशेष यत्न किया है। हम आप सभी के धन्यवादी हैं।

अन्त में हमारी प्रकाशन योजना के सम्बन्ध में—

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट जहाँ विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत है वहीं प्रकाशन में भी आम पाठक की पहुँच तक पुस्तकें उपलब्ध कराने के लिए यत्नशील है। इसके अन्तर्गत हम हितकारी प्रकाशन योजना के सदस्य बना रहे हैं। इसकी सदस्यता हेतु प्रारम्भ में एक बार एक सौ रुपये जमा कराने होंगे जो आपकी धरोहर के रूप में जमा रहेंगे। ये वापस नहीं होंगे। आप अपनी सदस्यता किसी अन्य के नाम परिवर्तित करवा सकते हैं। वर्ष में दो बार इस योजना के अन्तर्गत तीन सौ से छह सौ पृष्ठों के लगभग एक या अधिक पुस्तकें प्रकाशित की जाएँगी। यह लागत मूल्य पर दस प्रतिशत छूट काटकर व डॉक व्यय जोड़कर सदस्यों को दी जाएँगी। इसके अतिरिक्त ट्रस्ट द्वारा समय-समय पर अन्य प्रकाशकों की पुस्तकें विशेष छूट के साथ उपलब्ध कराई जाएँगी। इन छूटवाली पुस्तकों को लेना सदस्यों की इच्छा पर निर्भर करेगा।

हमने इस योजना के अन्तर्गत ३९८८ पृष्ठों की सामग्री हितकारी प्रकाशन योजना के सदस्यों को मात्र ४३५ रुपये में उपलब्ध करवाई है। भविष्य में इसके अन्तर्गत यही क्रम चलता रहेगा। यह लागत मूल्य पर दस प्रतिशत छूट ७ सितम्बर, २००४ योगेश्वर श्रीकृष्ण जन्मदिवस तक प्राप्त होगी।

इस योजना के अन्तर्गत हमने यजुर्वेदभाष्य का एक खण्ड पं० श्री हरिशरणजी सिद्धान्तालंकार का २०×३०/८ आकार में ६२० पृष्ठों का मात्र ८० रुपये में दिया है। पूज्य पण्डितजी का चारों वेदों पर भाष्य उपलब्ध है और इस योजना के अन्तर्गत शनैः-शनैः उपलब्ध होगा।

आप स्वयं इस योजना के सदस्य बनें और अन्यों को बनाकर पुण्य के भागी बनें।

—प्रभाकरदेव आर्य

प्रस्तावना

महाभारत तक [५२५० वर्ष पूर्व] सारे संसार में केवल एक धर्म था—वैदिक धर्म। महाभारत के युद्ध में अट्ठारह अक्षौहिणी खेत रहीं। एक करोड़ लोग मारे गये। कौरवपक्ष में तीन और पाण्डवपक्ष में सात योद्धा बचे। जहाँ योद्धा मारे गये वहाँ विद्वान् भी मारे गये। परिणामस्वरूप देश-विदेश में वैदिक धर्म का जो प्रचार और प्रसार होता था, वह बन्द हो गया। जब वेद का प्रकाश मन्द पड़ गया तब लोगों ने अपने-अपने दीपक, लालटेन और गैस के हण्डे जला लिये।

अब नये-नये पन्थ, मत और सम्प्रदाय आरम्भ हुए। वेद की एक-एक शिक्षा को लेकर एक-एक मत की स्थापना कर दी गई। जैन और बौद्धमत—**'अहिंसा परमो धर्मः'** पर टिका हुआ है। इस्लाम का मूल सिद्धान्त एकेश्वरवाद है। ईसाइयों ने सेवा को अपना लिया।

वैदिक धर्म में भी विकृतियाँ आने लगीं। एक वाममार्ग चला जिसमें मद्य, मांस, मैथुन आदि पाँच मकारों से मोक्ष माना जाने लगा। दूसरी ओर यज्ञ जिसका नाम अध्वर है [नहीं है हिंसा जिसमें अ+ध्वर], उसमें पशुओं की बलि दी जाने लगी। ब्राह्मण आदि वर्ण और ब्रह्मचर्य आदि आश्रम भी विकृत हो गये। वैदिक मर्यादाएँ समाप्त हो गईं। एक ईश्वर के नाम पर अनेक ईश्वर कल्पित हो गये। मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद, मृतकश्राद्ध, जन्मगत जाति-पाति, छुआछूत बाल-विवाह, अनमेल-विवाह आदि पाखण्ड और कुरीतियाँ फैल गईं। ईश्वर के स्थान पर विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र की पूजा आरम्भ हो गई। उन्नीसवीं शताब्दी में क्रान्ति के अग्रदूत, बालब्रह्मचारी, वेदों के उद्‌भट विद्वान्, योगिराज महर्षि दयानन्द सरस्वती भारतीय रंगमञ्च पर अवतरित हुए। महर्षि ने धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी क्षेत्रों में एक क्रान्ति मचा दी। धर्म के वास्तविक स्वरूप को पुनः उजागर किया।

महर्षि दयानन्द के पश्चात् उनके शिष्यों ने भी पाखण्ड और कुरीतियों को मिटाने का भरसक प्रयास किया। उस शिष्यमण्डली में एक हैं—स्वनामधन्य पं० शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ। आपने

वेदों का गम्भीर अध्ययन किया और अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे। उन्हीं द्वारा लिखित 'त्रिदेव-निर्णय' आपके हाथ में है। इसमें विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र का वास्तविक स्वरूप वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद् और पुराणों के आधार पर प्रकट किया है। विष्णु आदि कोई देहधारी अवतार नहीं थे। विष्णु सूर्य है, ब्रह्मा वायु है और रुद्र विद्युत् है। पं० शिवशङ्करजी ने इनकी विद्वत्तापूर्ण और सटीक व्याख्या की है।

हमें इस ग्रन्थ के मुद्रण के लिए जो प्रति मिली थी उसमें अशुद्धियों की भरमार थी। मन्त्र और श्लोक अशुद्ध थे। हमने सारे प्रमाणों को मूलग्रन्थों से मिलाकर इसे शुद्धतम रूप में छापने का प्रयत्न किया है। आवश्यक होने पर कहीं-कहीं एक-आध शब्द को आगे-पीछे करके भाषा को सुन्दर रूप प्रदान किया। आशा है पाठक इसे पहले से अधिक उपयोगी पाएँगे। जनता ने सहयोग दिया तो पण्डितजी के अन्य ग्रन्थ भी पुनः प्रकाशित किये जाएँगे।

वेद-मन्दिर विदुषामनुचरः
इब्राहीमपुर, दिल्ली-११० ०३६ **जगदीश्वरानन्द सरस्वती**
दूरभाष : ७२०२२४९ १.१.२००२

विषय-सूची

विषय **पृ०**

वेद-तत्त्व-प्रकाश

त्रिदेव-निर्णय

अथ विष्णु-निर्णय

[1]उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये।

सुमृळीका भवतु नः ॥ —ऋग्वेद*

अर्थ—(अमृतस्य) अमृत जो मुक्ति का दाता, अविनश्वर, सदा एकरस परमेश्वर है, उसके (ये) जो (सूनवः) पुत्र हैं, अर्थात् परमेश्वर के जो भक्त हैं, वे (नः) हम लोगों के (गिरः) वचनों को (उप-शृण्वन्तु) सुनें। तत्पश्चात् (ये) वे हमलोगों को (सुमृडीकाः) अच्छे प्रकार सुख पहुँचानेवाले (भवन्तु) होवें।

अथवा इसका अर्थ यह भी होता है कि हम मनुष्यों के जो सूनु, अर्थात् सन्तान हैं वे अमृतप्रद परमात्मा के वचनों को, अर्थात् वेदों को प्रथम सुनें। तत्पश्चात् हम लोगों के लिए सुखकारी होवें, क्योंकि वेदाध्ययन के बिना जगत् में कोई सुखकारी नहीं हो सकता।

विद्वानों का समागम

एक समय पण्डित विष्णुदत्त, रुद्रदत्त, रामप्रसाद, कृष्णप्रसाद, भैरवसहाय, भगवतीचरण, चण्डिकाप्रसाद, गङ्गाधर, यमुनानन्दन और लक्ष्मणानन्द आदि अनेक जिज्ञासु विद्वान् पुरुष अनेक देशों से भ्रमण करते हुए मेरे समीप आकर बोले कि हम लोग यद्यपि भिन्न-भिन्न देशों के निवासी हैं, परन्तु तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग से सम्प्रति एक भ्राता के समान हो रहे हैं, विशेष निवेदन आपसे यह है कि हम लोग भारतवर्ष के सकल तीर्थस्थानों को देख-भालकर आपके समीप आये हैं। तीर्थयात्रा के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थानों में श्री महर्षि दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के अनुकूल उपदेश देते हुए अनेक आर्यपुरुषों के मुखारविन्द से उनके वचनों को सुनकर बहुत संशय तो प्रथम

---

१. उप-शृण्वन्तु। ''प्र परा अप सम् अनु अव निस् निर् दुस् दुर् वि आङ् नि अधि अपि अति सु उत् अभि प्रति परि उप'' इतने शब्दों का नाम व्याकरण के अनुसार ''उपसर्ग'' होता है। ये उपसर्ग आगे, पीछे, दूर, समीप कहीं हों, परन्तु अर्थ के समय क्रिया (Verb) के साथ मिल जाते हैं, यह वैदिक नियम है।

* ऋग्वेद ६.५२.९

ही निवृत्त हो चुके हैं, परन्तु दो-चार सन्देह ऐसे रह गये हैं, जिनसे हम सबके अन्तःकरण आकुल-व्याकुल हो रहे हैं। यदि आज्ञा हो तो उनको निवेदन करें। वे ये हैं—विष्णु, ब्रह्मा तथा महादेव की पूजा कब से प्रचलित हुई है ? और यह वेद-विहित है या नहीं, हम सबने भी व्याकरण, न्याय, वेदान्त, पुराण, तन्त्र आदि अनेक शास्त्र गुरुमुख से पढ़े हैं, और वेद भी देखे हैं, वेदों में विष्णु, लक्ष्मी, श्री, सुपर्ण, वरुण, समुद्र, ब्रह्मा, सरस्वती, हंस, रुद्र, शङ्कर, महादेव, नीलकण्ठ, शितिकण्ठ, पशुपति, कृत्तिवासा, गौरी, अम्बिका, वृष आदि सभी नाम आये हैं। विशेष आपके निकट क्या वर्णन करें। वेदों में विष्णुसूक्त, लक्ष्मीसूक्त और रुद्रसूक्त तो बहुत दीख पड़ते हैं और इन्हीं सूक्तों से इन देवों की पूजा भी लोग किया करते हैं, इसलिए अधिक सन्देह होता है कि यह पूजा वैदिक है या अवैदिक। वेदों के देखने से हम लोगों को कुछ भी निश्चय नहीं होता। सन्देहरूप दोला पर मन डोल रहा है। ब्रह्मा, विष्णु और महादेव इन तीन देवों के साथ जो वाहन, शक्ति, निवास, स्थान आदि अनेक उपाधियाँ लगी हुई हैं, उनका भेद भी कुछ प्रतीत नहीं होता। विष्णु, ब्रह्मा के वाहन पक्षी। महादेव का बैल। पुनः विष्णु का गृह समुद्र। महादेव का पर्वत। विष्णु श्याम, महादेव गौर इत्यादि अनेक उपाधियाँ देखते हैं। ये सब क्या हैं ? इत्यादि अनेक शङ्काएँ हृदय में उठती हैं, इस हेतु आप कृपाकर इसका भेद हम जिज्ञासुओं से कहें। हम लोग बहुत दूर से आये हुए हैं। हम लोगों के भाव को आप अच्छी प्रकार समझ गये होंगे। जो कुछ अन्य विषय भी इन देवों के सम्बन्ध में होंवे—सभी का विस्तार करके हम लोगों को समझावें। यही आपसे निवेदन है।

मैं इन सबका विस्तार से वर्णन करूँगा। आप सब सावधान होकर सुनें। प्रथम में जगदीश को हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ, जिसने असंख्य सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, समुद्र, नदी, जलचर, स्थलचर, नभचर आदि पदार्थ उत्पन्न किये हैं और जो हम आप सबके हृदय में विद्यमान हो, हमारे निखिल कर्त्तव्य को देख रहा है। धन्य परमात्मन्! धन्य है जगदीश! इसके अनन्तर मैं अपनी अति संक्षिप्त कथा सुनाता हूँ, जिससे मैं आशा करता हूँ कि आप लोगों को भी अवश्य लाभ होगा, क्योंकि भारतवर्ष में कैसा अन्धकार सर्वत्र व्याप्त है। बड़े-बड़े विद्वान् किस प्रकार इसमें पड़कर अन्धवत् हो रहे हैं और मैंने किस प्रकार इससे त्राण पाया।

बाल्यावस्था में जब सत्यनारायण की कथा मुझे अच्छी प्रकार से आ गई तब मेरे मन में एक बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। मैं विचारने लगा कि धनाढ्य पुरुषों में से किसी विरले पुरुष को ही पुण्य-प्राप्ति से मास-मास में यह कथा सुनने को मिलती है और जो दरिद्र हैं वे अपने जीवनभर में कदाचित् एक-आध बार ही सुन पाते हैं। मुझे यह कथा समग्र आ गई है। पूर्व जन्मार्जित पुण्य का यह फलोदय है। मैं इसका प्रतिदिन पाठ किया करूँ। इस विचार के अनुसार प्रात:काल स्नान-सन्ध्या आदि कर इसका पाठ करना आरम्भ कर दिया। कुछ दिन के पश्चात् सप्तशती दुर्गापाठ भी अर्थ-सहित मैंने पढ़ा। अब विचारने लगा कि इससे बढ़कर जगत् में कोई गुप्त और सिद्ध ग्रन्थ नहीं है, क्योंकि इससे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसी का पाठ मेरे अखिल मनोरथ को सिद्ध करेगा, अतएव मैंने प्रात: और सन्ध्या दोनों काल इसका पाठ आरम्भ किया और इसके लिए जितने नियम, व्रत आदि हैं, वे भी करने लगा। इसके साथ-साथ सन्ध्यावन्दन, पञ्चदेवपूजा, गायत्रीजप और महिम्न-स्तोत्र आदि अनेक पाठ और अनेक देवताओं के मन्त्रों का जप केवल इसकी सहायता के लिए करता था।

मेरे ग्राम के समीप प्राय: ८, ९ मील पर गङ्गेश्वर महादेव हैं। वहाँ माघ मास के प्रत्येक रविवार को उपानहरहित पैदल जाया करता था। कुछ दिन के अनन्तर मेरे पितामह अमृतनाथ चौधरी (मिथिला देश में ब्राह्मणों की भी चौधरी, सिंह आदि पदवी है। दरभंगा महाराज ब्राह्मण होने पर भी 'सिंह' कहलाते हैं, श्रीमान् रामेश्वरसिंह इत्यादि) मुझे संस्कृत पाठशाला में भरती करवाने के लिए मधुबनी जो मेरे ग्राम से पूर्व पाँच कोश पर है, ले-गये। वहाँ मेरा डेरा एक मन्दिर में हुआ। जहाँ श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र आदि की अनेक प्रकार की मूर्त्तियाँ स्थापित हैं। वहाँ साम्प्रतिक दरभंगा महाराज के पितामह के भ्राता का सुविस्तृत राज्य है, इस हेतु यहाँ बहुत प्रकार के देवमन्दिर हैं, यहाँ मेरे मन में कई एक तरंगें उठा करती थीं। किसकी उपासना मुख्यतया करनी चाहिए। मैं श्रीरामचन्द्र को श्रेष्ठ मानने लगा, परन्तु दुर्गापाठ में पूर्ववत् ही भक्ति बनी रही। पाठशाला में जब-जब अनध्याय होता तब-तब मेरा सम्पूर्ण समय बिल्वपत्र और तुलसीदल आदि के लाने में लगता था। दश दश सहस्र बिल्वपत्र और तुलसीदल महादेव और शालिग्राम को चढ़ाया करता था। इसमें प्रात:काल से रात्रि के ९-१० बजे तक समय व्यतीत हो जाता था।

श्रीयुत् मान्यवर पण्डित अम्बिकादत्त व्यास सुप्रसिद्ध विद्वान् उस समय मधुबनी संस्कृतपाठशाला के मुख्याध्यापक थे। मुझे इन सबमें अधिक समय लगाते हुए देख, अनेक उपदेश दिया करते थे। उनमें से एक बात यह थी कि मुझे और मेरे ५-७ सहाध्यायियों को बुलाकर मत्स्यमांस खाने से निवारण किया और शपथ भी खिलवाया। इस प्रतिज्ञा के भङ्ग करने पर मेरे एक सहाध्यायी को प्रायश्चित्त भी करवाया। इस समय मेरे मन में यह निश्चय हुआ कि तुलसी आदि के बटोरने में समय व्यर्थ व्यतीत करना है। केवल जप करना चाहिए। तत्पश्चात् यह निश्चय हुआ कि जप करने में भी व्यर्थ ही समय जाता है, केवल ध्यान करना चाहिए। पाठशाला में सुनीति संचारिणी सभा होती थी, जिसमें पं० अम्बिकादत्त व्यास श्रीकृष्णजी का ध्यान बहुत बतलाया करते थे। इस हेतु मैंने श्रीकृष्णजी के ध्यान में कुछ समय व्यतीत किया, परन्तु अब मेरे अन्तःकरण में यह उत्कट जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि यथार्थ में ब्रह्म क्या वस्तु है ? और वह कैसे मिल सकता है ? इस विषय में मैंने बहुत प्रश्न करना आरम्भ किया। रात-दिन इसमें मेरा समय व्यतीत होने लगा। पाठ्य पुस्तकों का अभ्यास बहुत कम करने लगा। यह दशा देख व्यासजी मुझको और मेरे दो साथियों को भी गीता, सांख्य और योगभाष्य पाठशाला के समय से अतिरिक्त पढ़ाने लगे।

इस समय एक हठयोगी लक्ष्मणदासजी महाराज साहब के गृह पर रहते थे। उनसे व्यासजी हठयोग सीखने लगे और मुझे क्रियासहित हठयोग प्रदीपिका पढ़ाने लगे। इसमें मेरे किसी साथी को सम्मिलित नहीं किया। एकान्त स्थान में मुझे आसन आदि क्रियाएँ बतलाते थे। व्यासजी अधिक वयःक्रम होने के कारण स्वयं आसन आदि नहीं लगा सकते थे। मेरी अवस्था बहुत कम थी, इससे सब आसन साध लेता था, परन्तु इन आसन आदि क्रियाओं से भी मेरा चित प्रसन्न न देखकर व्यासजी मुझे विस्पष्ट कहा करते थे कि यह एक सीखने की बात है, इस हेतु सीख लो, जिससे तुमको आगे इसकी लालसा न रहे और एक ग्रन्थ भी इस प्रकार हो जाएगा। इसको लोग सिद्धि मानते हैं। देखो तो इसमें क्या सिद्धि है।

जब पण्डित अम्बिकादत्त व्यास मधुबनी को छोड़ मुजफ्फरपुर इण्ट्रेन्स स्कूल के हैड पण्डितपद पर नियुक्त हुए तब मैं भी इनके साथ ही चला आया, यद्यपि इसके लिए मुझे मधुबनी पाठशाला के सब अध्यापकों से विरोधी बनना पड़ा। यहाँ आकर धर्मसमाज

नामक पाठशाला में पढ़ने लगा। इसमें संस्कृत की आचार्य परीक्षा तक संस्कृत के सब ग्रन्थ पढ़ाये जाते हैं। मधुबनी में भी व्यासजी धर्म के व्याख्यान देने के समय कभी-कभी स्वामी दयानन्द सरस्वती की चर्चा किया करते थे, परन्तु यहाँ इसकी चर्चा अधिक बढ़ गई। जब-जब मैं व्यासजी से स्वामीजी के विषय में कुछ पूछता था तो वे बहला देते थे। मेरी जिज्ञासा इसके विषय में अधिक बढ़ गई। धर्मसमाज के पुस्तकालय में सत्यार्थप्रकाश का पता मुझे लगा, मैंने उसको पढ़ा। प्रश्नोत्तर होने पर पाठशाला के सब पण्डित मेरे विरोधी बन गये, परन्तु मुख्याध्यापक श्रीयुत निधिनाथ झा मुझको बहुत मानते थे और केवल इनसे ही आकर दो घण्टे पाठ पढ़ जाता था। मैंने यहाँ "काव्यतीर्थ" की परीक्षा दी और ईश्वर की कृपा से उत्तीर्ण भी हो गया।

अब मुझे काशी जाने का अवसर मिला। मैं काशी की मध्यमा परीक्षा प्रथम ही दे चुका था। इस हेतु क्विन्स कॉलेज बनारस से छात्रवृत्ति भी मिलने लगी। यह समय प्रायः १८८९ ईस्वी था। श्रीयुत राममिश्र शास्त्री और श्रीयुत गङ्गाधर शास्त्रीजी से पढ़ना आरम्भ किया। राममिश्र शास्त्रीजी का अब तो नाममात्र शेष रह गया है, परन्तु ईश्वर की कृपा से श्रीयुत गङ्गाधर शास्त्रीजी अभी कॉलेज में पढ़ा रहे थे। मैंने इस समय काशी की विचित्र लीला देखी। ४००, ५०० मैथिल विद्यार्थी मुझसे विरोध करने लगे। इसी समय काशी के मानमन्दिर में एक पण्डित सभा होने लगी, जिसका उद्देश्य केवल स्वामी-प्रणीत सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों का खण्डन करना था। इसमें शिवकुमार शास्त्री प्रधान थे और काशी के सभी प्रसिद्ध पण्डित इकट्ठे होते थे, इस सभा ने मेरा बड़ा उपकार किया। काशी के निखिल दिग्गज पण्डितों की योग्यता एक साथ ही प्रतीत हो गई। मुझे निश्चय हो गया कि इनमें से कोई भी वेद नहीं जानते।

यह घटना देख अत्यन्त शोक भी हुआ कि हाय! आज काशी-जैसे धाम में जब वेदविद्या नहीं रही तब वह भारतवर्ष की किस भूमि पर होगी? क्या ईश्वर की यही इच्छा है कि वह अपनी वाणी को इस अपवित्र भूमि से उठा ले। इस समय पण्डित कृपारामजी, जो आजकल स्वामी दर्शनानन्द कहलाते हैं, काशीजी में थे। पण्डितजी उस सभा के सब प्रश्नों का उत्तर दिया करते थे। इनकी सभा अलग हुआ करती थी। मुझे बड़ा आश्चर्य होता था कि काशी के पण्डित लोग कृपारामजी की युक्तियों का भी खण्डन नहीं कर

सकते थे। मेरा न कृपाराम से और न आर्यसमाज से कोई सम्बन्ध था। मैं कभी आर्यसमाज में भी नहीं गया, परन्तु कृपारामजी का उत्तर सुनने के लिए केवल कभी-कभी वहाँ जाया करता था, जहाँ वे व्याख्यान दिया करते थे। काशी की प्रसिद्ध-प्रसिद्ध जितनी सभाएँ होती थी, प्राय: मैं सबमें जाता था।

पण्डित अम्बिकादत्त व्यासजी का काशी में ही गृह था, इस हेतु जब-जब वे आते थे तब-तब मुझे प्राय: दर्शन दिया करते थे और कभी-कभी चार-चार घण्टे तक इनके साथ विचार होता रहता था। ये अच्छी तरह से मान गये थे कि मूर्त्तिपूजा वेद में नहीं है। दयानन्द जो कहता है वह सर्वथा सत्य है, परन्तु कलियुग के लोग मन्दबुद्धि हैं, अत: इसको नहीं समझ सकते और इसके ग्रहण करने से लोकनिन्दा भी होती है, इस हेतु अच्छे मनुष्य इसके निकट नहीं जाते इत्यादि। मैं आप लोगों से इतना और भी कहना चाहता हूँ कि जब मैंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वर्णित अहल्या, वृत्रासुर आदि की कथा पढ़ी तब मेरे चित्त में एक बड़ा भारी सन्देह उत्पन्न हुआ। इसके पहले मैंने इन सबका ऐसा अर्थ न कहीं सुना था और न पठित पुस्तकों में कहीं देखा ही था। इस हेतु यह सन्देह उत्पन्न हुआ? क्या अन्य आचार्यों ने भी कहीं पर ऐसा अर्थ किया है या नहीं। जिन ग्रन्थों के प्रमाण भूमिका में दिये गये हैं उनका यथार्थ तात्पर्य यह है वा अन्य कुछ, इत्यादि सन्देहों से मुझे वेद और ब्राह्मणग्रन्थों के अध्ययनार्थ बड़ी उत्सुकता उत्पन्न हुई, तब से अन्य शास्त्रों का अध्ययन त्याग केवल वेद पढ़ना आरम्भ किया।

ईश्वर की कृपा से बिहार देशस्थ बाँकीपुर-पटना रहने लगा। यहाँ चारों वेद सभाष्य पढ़ने को मिल गये। यहाँ एक पब्लिक लाइब्रेरी भी बहुत उत्तम है। हे विष्णुदत्त आदि महाविद्वानो! वेदों के अध्ययन से सम्यक् प्रकार मुझे विदित हो गया कि आजकल जितनी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध उपासनाएँ देश में प्रचलित हैं वे केवल आलङ्कारिक, अर्थात् मिथ्या हैं। सभी प्रसिद्ध देव—विष्णु, महादेव, ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण आदि रूपकालङ्कारमात्र में वर्णित हुए हैं। इस समय जिन-जिन प्रसिद्ध देवों की पूजा आप लोग देखते हैं वह सभी बनाई हुई हैं। हे विद्वानो! केवल अपने देश में ही नहीं किन्तु कुछ समय पूर्व सम्पूर्ण पृथिवी पर इन आलङ्कारिक देवों की पूजा होती थी। भारतवासी विद्वान् लोग अभी तक इस मर्म को नहीं जानते हैं। आप लोगों ने बहुत सोच-विचार कर इस प्रश्न को पूछा है। मैं विस्तार से वर्णन करता हूँ,

आप सुनें।

प्रथम मैं महर्षि दयानन्दजी को सहस्रशः नमस्कार करता हूँ कि जिनके ग्रन्थों के अवलोकन से शतशः भ्रम दूर हो गये। यदि मुझे इनकी सहायता आज न मिलती तो मैं भी भारतवासी विद्वानों के समान अश्वत्थ, बट, तुलसी, बिल्व आदि वृक्षों की, शालिग्राम, नर्मदेश्वर आदि प्रस्तरों की, गङ्गा, यमुना, कृष्णा, कावेरी आदि नदियों की, भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी आदि सर्वथा मिथ्या काल्पनिक वस्तुओं की पूजा करता रहता और सत्यनारायण की कथा, सप्तशती आदि महामिथ्याभूत ग्रन्थों का ही पाठ करता रहता, वेद तक पहुँचने का अवसर नहीं मिलता। यदि मिलता भी तो इसके अर्थ से तो सर्वथा वञ्चित ही रहता। एवं श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र, युधिष्ठिर, अर्जुन आदि को ही ब्रह्म अथवा ब्रह्म का अंश मान परब्रह्म से सदा विमुख रहता, परन्तु जिनके ग्रन्थावलोकन से ये सारे भ्रम मेरे अन्तःकरण से दूर हो गये, उनको प्रथम सहस्रशः नमस्कार हो। पुनरपि सच्चिदानन्द की वन्दना करता हूँ कि वह मेरे इस महान् कार्य में सहायक हों।

यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

— *ऋग्वेद*[1]

(यः) जो (देवेषु+अधि) सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, अग्नि, जल, वायु, आकाश, प्राण-इन्द्रिय समस्त देवों में (एकः+देवः) एक ही महान् देव (आसीत्) विद्यमान है, उसी (कस्मै) आनन्दस्वरूप (देवाय) महान् देव के लिए (हविषा) स्तुति, प्रार्थना, वन्दना, उपासना, पूजा आदि के द्वारा (विधेम) हम सब प्रेम-भक्ति किया करें॥

एक देव

हे कोविदवरो! जिस काल में ब्रह्मवादी—मधुच्छन्दा, मेधातिथि, दीर्घतमाः, अगस्त्य, कक्षीवान्, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज, बृहस्पति, वसिष्ठ, नारद, कश्यप, नारायण, शिवसङ्कल्प, याज्ञवल्क्य, ऐतरेय आदि और इनके पुत्र, पौत्र, दौहित्र आदि विद्वान् तथा ब्रह्मवादिनी—लोपामुद्रा, रोमशा, अपाला, घोषा, सूर्या, उर्वशी, यमी, कद्रू, गार्गी आदि विदुषी सब मिलकर देश में वेदविद्या का प्रचार कर रहे थे, उस समय केवल एक ही ब्रह्म की उपासना इस देश

१. ऋग्वेद १०.१२१.८

में थी। उस परमात्मदेव को अनेक नामों से पुकारते थे। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, मातारिश्वा, पृथिवी, वायु आदि नामों से। जैसाकि वेदों में कहा गया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥[१]
सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।[२]

मनुजी कहते हैं—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥[३]

बहुत युगों से यहाँ के महर्षि-सन्तान उस प्रिय ब्रह्म को भूल प्राकृत वस्तुओं की उपासना करने लगे। प्राकृत वस्तु अनन्त हैं? यह पृथिवी, जल, जलचर, विविधि मत्स्य, मकर, कच्छप आदि। पृथिवीस्थ समुद्र, पर्वत, नदी, वृक्ष-प्रभृति एवं विविध प्रकार के पशु एवं परितःस्थित असंख्येय सूर्य-चन्द्र तारागण ये सभी प्रकृति देवी की विभूतियाँ हैं। एक समय था, जब विद्वान् बहुत कम रह गये और उपदेश की परिपाटी सर्वथा बन्द हो गई, उस समय प्रजाएँ अज्ञ बन जिस-किसी की पूजा मनमाने ढंग से करने लगीं।

पश्चात् कुछ विद्वान् उत्पन्न हुए। यद्यपि वे भी ब्रह्म तक लोगों को न पहुँचा सके, परन्तु इन असंख्य देवों की उपासना छुड़वा केवल तीन देवताओं की उपासना में लोगों की रुचि दिलाई। वे तीन देव ये हैं। द्युलोकस्थ सूर्यदेव। अन्तरिक्षस्थ वायुदेव। पृथिवीस्थ अग्निदेव। उन विद्वानों ने यह भी उपदेश किया कि ये तीनों यथार्थ में एक ही हैं। उस समय के ग्रन्थों में यह विस्पष्ट लक्षण पाया जाता है कि अन्य समस्त देव-देवी इन तीनों के ही अङ्ग हैं और इन तीनों में भी एक महान् देव गूढ़रूप से विद्यमान है, जो इनको चला रहा है। यथार्थ में वही पूज्य, वही उपास्य, वही वन्द्य, वही सत्य है, परन्तु इस सूक्ष्मता तक प्रजाएँ न पहुँच सकीं। केवल सूर्य, वायु, अग्नि इन तीन ही देवों को प्रधानरूप से यज्ञादि में पूजने लगीं,

---

१. ऋग्वेद १.१६४.४६ २. ऋग्वेद १०.११४.५
३. मनु० १२.१२२-१२३

परन्तु इस समय तक इन तीनों देवों की कोई मूर्त्ति नहीं बनी थी। पश्चात् कुछ और विद्वान् उत्पन्न हुए। यह समय बुद्धदेव से बहुत पीछे का था।

देश में सर्वत्र प्रायः जैन-सम्प्रदाय प्रचलित हो गया था। ये लोग ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे, अर्थात् नास्तिक होने पर भी ये लोग अपने गुरु, तीर्थङ्करों की मूर्त्ति बनाकर बड़े समारोह के साथ मन्दिरों में स्थापित कर पूजते थे। इन जैन सम्प्रदायियों ने ही प्रथम इस देश में मूर्त्तिपूजा की रीति चलाई। जो लोग इस सम्प्रदाय से घृणा रखते थे, विचार करने लगे कि अब क्या करना चाहिए। यह जैनी मूर्त्ति बनाकर मन्दिरों में स्थापित कर अपने घण्टे-घड़ियाल और शङ्खादि की ध्वनि से हमारे भोले-भाले भाइयों को अपनी ओर खींच रहे हैं। हमें भी ऐसी मूर्त्तियाँ बनाकर स्थापित करनी चाहिएँ। यह विचार स्थिर होने पर इनमें जो बुद्धिमान् थे, उन्होंने तीन देवता कल्पित किये। सूर्य के स्थान में विष्णुदेव। वायु के स्थान में ब्रह्मा और विद्युत् (बिजली) के स्थान में महादेव, जिसको रुद्र, शिव, भोलानाथ आदि नाम से पुकारते हैं। विद्युत् एक प्रकार की अग्नि ही है। केवल विद्युत् ही नहीं, किन्तु जितनी अग्निशक्ति है उस सबके स्थान में रुद्रदेव बनाये गये। अब यहाँ क्रमशः निरूपण करते हैं, जिससे आप लोगों को विशदतया बोध हो जाएगा।

विष्णु-नाम

पूर्वकाल में सूर्य का ही नाम विष्णु था। इसमें प्रथम हम विष्णुपुराण का ही प्रमाण देते हैं। यथा—

तत्र विष्णुश्च शक्रश्च जज्ञाते पुनरेव च[1]।
अर्यमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा तथैव च॥ १३१॥
विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च।
अंशो भगश्चादितिजा आदित्या द्वादश स्मृताः॥ १३२॥

विष्णु, शक्र, अर्यमा, धाता, त्वष्टा, पूषा, विवस्वान्, सविता, मित्र, वरुण, अंश और भग। ये द्वादश नाम सूर्य के हैं।

अब महाभारत का प्रमाण सुनिए—

---

१. विष्णुपुराण अध्याय १५। अंश प्रथम। जीवानन्द विद्यासागर प्रकाशित १८८२ ई० कलकत्ता।

धाताऽर्यमा च मित्रश्च वरुणोंऽशो भगस्तथा[1] ॥ ६५ ॥

इन्द्रो विवस्वान् पूषा च त्वष्टा च सविता तथा।

पर्जन्यश्चैव विष्णुश्च आदित्या द्वादश स्मृताः ॥ ६६ ॥

इन दो प्रमाणों से सिद्ध है कि पूर्वकाल में सूर्य का नाम विष्णु था। यह भी देखिए अनेक नामों में अन्तरिक्ष (आकाश) का एक नाम विष्णुपद है। यथा—

वियद् विष्णुपदं वापि पुंस्याकाशविहायसी ॥*

जिस हेतु आकाश में सूर्य का पद=स्थान है, अतः विष्णुपद आकाश का नाम है। अब वेद का जो साक्षात् कोश है, उसको देखिए—

त्वष्टा। सविता। भगः। सूर्यः। पूषा। विष्णुः। विश्वानरः। वरुणः। *—निघण्टु अध्याय ५ खण्ड ६।*

इसपर भाष्य करनेवाले यास्काचार्य ने विष्णु का सूर्य ही अर्थ किया है। वेदों में तो अनेक प्रमाण हैं, जिनका आगे निरूपण करूँगा, । यहाँ केवल एक प्रमाण सुनाते हैं—

इरावती धेनुमती हि भूतं सूयवसिनी मनुषे दशस्या।

व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः ॥[2]

(विष्णो) हे सूर्य! (एते+रोदसी) इस द्युलोक और भूलोक को (व्यस्तभ्नाः) आपने पकड़ रक्खा है और (मयूखैः) अपने अनन्त किरणों से, अर्थात् आकर्षण शक्ति से (पृथिवीम्) पृथिवी को (अभितः) चारों ओर से (दाधर्थ) धारण किये हुए हैं।

इस मन्त्र में किरण-वाचक मयूख शब्द विद्यमान है, अतः यहाँ विष्णु शब्द का सूर्य ही अर्थ है। अब अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। आप लोगों को विश्वास हो गया होगा कि विष्णु नाम सूर्य का ही था, इस हेतु इस विष्णुदेव की कल्पना करनेवालों ने सूर्य के नाम पर ही अपने कल्पित देव का नामकरण-संस्कार भी किया, जिससे वेद से सब बातें मिलती जाएँ।

---

१. महाभारत आदिपर्व अध्याय १२३ प्रतापचन्द्र प्रेस प्रकाशित, कलकत्ता। शकाब्द १८०६। गीता प्रेस १२२।६६-६७।

* अमरकोषः प्रथमं काण्डम्, व्योमवर्ग० २।

२. ऋग्वेद ७।९९।३

विष्णु का वाहन सुपर्ण (गरुड़)

अब आप लोगों को इस बात पर पूरा ध्यान रखना चाहिए कि सूर्य के जो-जो गुण हैं, वे ही इस कल्पित विष्णु में भी स्थापित किये गये और जिस-जिस शब्द के दो-दो अर्थ हो सकते हैं, उस-उस शब्द के अर्थ के अनुसार वाहन, स्थान, शक्ति आदि बनाये गये हैं। इसी प्रकार जिस-जिस समस्त पद में दो-दो समास हो सकते हैं, ऐसे-ऐसे पद रक्खे गये। बात यह है कि बड़ी निपुणता और विद्वत्ता के साथ वाहन आदि की कल्पना की गई है। देखिए, सुपर्ण नाम सूर्य की किरण का है, परन्तु गरुड़ का भी नाम सुपर्ण है। यथा—

खेदयः। किरणाः। गावः। रश्मयः। अभीशवः। दीधितयः। गभस्तयः। वनम्। उस्राः। वसवः। मरीचपाः। मयूखाः। सप्तऋषयः। साध्याः। सुपर्णाः। इति पञ्चदश रश्मिनामानि।

—निघण्टु। प्रथमाध्यायः। खण्ड ५॥

खेदि, किरण, गौ, रश्मि, अभिशु, दीधिति, गभस्ति, वन, उस्र, वसु, मरीचि, मयूख, सप्तऋषि, साध्य और सुपर्ण—ये १५ नाम सूर्य की किरणों के हैं। यहाँ पर आप देखते हैं कि सुपर्ण शब्द आया है। निघण्टु वेद का कोश है, इसका प्रमाण मैंने दिया। वेदों के मन्त्रों में सूर्य की किरण अर्थ में सुपर्ण शब्द बहुत प्रयुक्त हुआ है, मैं केवल एक उदाहरण सुनाता हूँ। यथा—

वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान् निधयेव बद्धान्॥

—निरुक्त ४।१॥[1]

यह ऋग्वेद का मन्त्र है। यास्काचार्य ने निरुक्त में दिया है। सूर्य की किरणों का यहाँ अलङ्काररूप से वर्णन किया गया है। (वयः) अति गमनशील (सुपर्णाः) किरण (इन्द्रम्) सूर्य के निकट (उप+सेदुः) पहुँचे। (नाधमानाः) याचना करते हुए, अर्थात् सूर्य से याचना करने के लिए किरण सूर्य के समीप गये। वे किरण कैसे हैं, (प्रियमेधाः) यज्ञप्रिय, क्योंकि सूर्य के उदय बिना यज्ञ नहीं होता। पुनः कैसे हैं, (ऋषयः) जैसे वसिष्ठादि ऋषि ज्ञान का प्रकाश करते हैं; वैसे ये किरण भी अन्धकार का नाश कर सब पदार्थों के रूप

---

१. निरुक्त ४।१।३, ऋग्वेद १०।७३।११

को प्रकाशित करती हैं। किस प्रयोजन के लिए सूर्य के समीप गई, अतः आगे कहते हैं—हे स्वामिन्! (ध्वान्तम्) अन्धकार को (अप+ ऊर्णुहि) दूर कीजिए। (चक्षुः) प्राणिमात्र की आँखें अपनी ज्योति से (पूर्धि) पूर्ण कीजिए और (निधयः+इव बद्धान्) जैसे पक्षी पाश में बद्ध हो तद्वत् आपके मण्डल में बद्ध (अस्मान्) हम लोगों को मर्त्यलोक में जाने के लिए (मुमुग्धि) छोड़ दीजिए।

यहाँ यास्काचार्य ने "**सुपर्णा आदित्यरश्मयः**" ऐसा लिखा है, अर्थात् सुपर्ण सूर्य की किरणों का नाम है। पुनः—

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभि स्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥[१]

इस मन्त्र की व्याख्या में भी यास्काचार्य ने "**सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः**" लिखा है, अर्थात् सूर्य की किरण का नाम सुपर्ण है। अब आप लोगों को विश्वास हो गया होगा कि सुपर्ण शब्द वेदों में सूर्य की किरणार्थ में आया है।

परन्तु आजकल यह सुपर्ण शब्द गरुड़ के अर्थ में ही आता है।

गरुत्मान् गरुडस्तार्क्ष्यो वैनतेयः खगेश्वरः।
नागान्तको विष्णुरथः सुपर्णः पन्नगाशनः॥ —*अमरकोशः*[२]

गरुत्मान्, गरुड़, तार्क्ष्य, वैनतेय, खगेश्वर, नागान्तक, विष्णुरथः सुपर्ण और पन्नगाशन—इतने नाम गरुड़ पक्षी के हैं। गरुत्मान्, तार्क्ष्य आदि शब्द भी सूर्य की किरणार्थक वेदों में आये हैं। आप लोगों ने देखा कि सुपर्ण नाम गरुड़ का भी है। अब विचार करने की बात है कि सूर्य का वाहन किरण है, क्योंकि किरणों के द्वारा ही सूर्य मानो सर्वत्र पहुँचता है। वेदों में वर्णन आया है कि किरण मानो सूर्य को ढोते फिरते हैं, जब सूर्य के स्थान में विष्णुदेव पृथक् कल्पित हुए तब जो वाहन सूर्य का था उसी नाम का वाहन इस विष्णु को भी दिया गया। उस नाम का वाहन इस मर्त्यलोक में गरुड़ नाम का पक्षी ही है, अन्य नहीं। इस हेतु विष्णु का वाहन गरुड़ माना गया। इससे भी आप देख सकते हैं कि सूर्य को ही लोगों ने विष्णु बनाया।

---

१. ऋग्वेद १।१६४।२१
२. अमर० प्रथमं काण्डम्, स्वर्गवर्ग० १।२९

सर्पभक्षक गरुड़

एक विषय यह भी मीमांस्य है कि विष्णु के बनानेवाले चाहते तो अन्य किसी नाम के साथ सङ्गति मिलाकर विष्णुदेव को कोई और ही वाहन देते। गरुड़ ही वाहन क्यों दिया? इसमें एक अन्य कारण भी है। गरुड़ साँप को खाता है, साँप का एक नाम "अहि" आता है; यह संस्कृत में अति प्रसिद्ध है, परन्तु वैदिक भाषा में अहि नाम मेघ का भी है। यथा—

अद्रिः। ग्रावा। गोत्रः। बलः। अश्नः। पुरुभोजः। ....अहिः। अभ्रम्। बलाहकः ...... इत्यादि —*निघण्टु १।१०*

अद्रि, ग्रावा, गोत्र, बल, अश्न, पुरुभोज, बलिशान, अश्मा, पर्वत, गिरि, व्रज, चरु, वराह, शम्बर, रोहिण, रैवत, फलिग, उपर, उपल, चमस्, अहि, अभ्र, बलाहक, मेघ, दृति, ओदन, वृषन्धि, वृत्र, असुर और कोष—ये तीस नाम मेघ के हैं।

अब आप लोग यह विचार सकते हैं कि सूर्य के सुपर्ण (किरण) तो अहि, अर्थात् मेघ के खानेवाले हैं और विष्णु भगवान् के सुपर्ण (गरुड़) अहि अर्थात् साँप के खानेवाले हैं। किस प्रकार से विष्णु रचयिता ने द्व्यर्थक शब्दों को ले-लेकर एक महान् देवता को गढ़कर खड़ा किया है।

सुपर्ण और अमृत-हरण

सुपर्ण (गरुड़) के सम्बन्ध में इतना और भी जानना चाहिए कि कहीं-कहीं और विशेषकर महाभारत के आदिपर्व में सुपर्ण और अमृत-हरण की लम्बायमान आख्यायिका आती है। यथा—

इत्युक्तो गरुडः सर्पैस्ततो मातरमब्रवीत्।
गच्छाम्यमृतमाहर्तुं भक्ष्यमिच्छामि वेदितुम्॥[१]

गरुड़-माता विनता किसी कारणवश सर्प-माता कद्रू की दासी बन बड़ी दुःखिता थी। एक समय माता से जिज्ञासा करने पर गरुड़ को विदित हुआ कि जब तक अमृत ला सर्पों को न दूँगा, तब तक मेरी माता दासत्व से मुक्त नहीं होगी। इस हेतु गरुड़जी को अमृत लाने के लिए अवर्णनीय उद्योग करना पड़ा है। महाभारत के आदिपर्व के २०वें अध्याय से ३२वें अध्याय तक देखिए। इसका नाम ही

---

१. महा० आदि० २८।१

सौपर्णाध्याय है। इस आख्यायिका का मूल भी सूर्य की किरणें ही हैं। अमृत नाम जल का है। **'पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्'**[१] पय, कीलाल, अमृत, जीवन, भुवन, वन आदि अनेक नाम जल के हैं, अमरकोश में देखिए। सुपर्ण=सूर्य की किरणें अमृत, अर्थात् जल का हरण करती हैं और हरण करके अहि, अर्थात् मेघ को देती हैं। सर्प और मेघ दोनों का अहि नाम है।

शङ्का—कदाचित् आप कहेंगे कि अभी वर्णन किया गया है कि किरण मेघ का भक्षक है, परन्तु यहाँ पर पोषक बन गया। यह क्या! महाभारत की कथा में भी आप देखते हैं कि जो गरुड़ सर्पों का संहर्त्ता है, वह यहाँ दास बना हुआ है। महाभारत में कहा गया है कि—

ततः सुपर्णमाता तामवहत् सर्पमातरम्।
पन्नगान् गरुडश्चापि मातुर्वचनचोदितः॥[२]

जब कद्रू ने पुत्रादिसहित अपने को नागलोक में पहुँचाने को विनता से कहा, तब गरुड़जी अपनी माता की आज्ञा के अनुसार सर्पों को ढो-ढोकर नागालय को पहुँचाया करते थे। तत्त्व इसमें यह है कि सूर्य की किरण अहि (मेघ) को बनाती और बिगाड़ती हैं, क्योंकि सूर्य की गरमी से ही मेघ बनता है। वायु में शीतलता प्राप्त होकर उससे मेघ शीतल हो नष्ट भी हो जाता है। इन सब घटनाओं का मुख्य कारण सूर्य-किरण ही हैं। इसी हेतु दोनों वर्णन हैं कि सुपर्ण 'अहि' का पोषक और भक्षक दोनों है। इसी हेतु महाभारत की आख्यायिका में भी सुपर्ण (गरुड़) सर्प के भक्षक और वाहन दोनों हैं। अब आप लोग समझ गये होंगे कि यह सब कथा गढ़ी हुई है, यथार्थ नहीं। आप लोग स्वयं बुद्धिमान् हैं, इदृग् कथाएँ जहाँ-जहाँ आप देखें वहाँ-वहाँ प्रकृति का वर्णनमात्र समझें। कभी कोई ऐसा गरुड़ वा विनता वा कद्रू वा सर्प नहीं हुआ। वेदों की एक छोटी-सी बात को लेकर इन पुराणों में सहस्रों श्लोकों के द्वारा नवीन रीति से आख्यायिका बनाई हुई है। यहाँ वेद का एक मन्त्र उद्धृत करता हूँ, जिससे आपको विदित होगा कि सुपर्ण अमृत के लिए मानो सदा लोभायमान रहता है।

---

१. अमरकोशः, प्रथमं काण्डम्, वारिवर्ग १०।३
२. महा० आदि० २५।५

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभि स्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥

—यह ऋग्वेद* का वचन है।

यास्कचार्य ने निरुक्त में इसकी व्याख्या की है। (यत्र[१]) जिस सूर्यमण्डल में स्थित (सुपर्णाः) किरणें (अनिमेषम्) सर्वदा (विदथा) अपने कर्म से युक्त हों (अमृतस्य+ भागम्) जल के अंश को पृथिवी पर से लेकर (अभिस्वरन्ति) पदार्थमात्र को तपाते हैं, अर्थात् जब सूर्य की किरणें पृथिवी के जल को सोख लेती हैं, तब क्या जड़, क्या चेतन सभी सन्तप्त होने लगते हैं, (इनः) ऐश्वर्ययुक्त (विश्वस्य+भुवनस्य) अपने प्रकाश से सम्पूर्ण भुवन का (गोपः) रक्षक (धीरः) बुद्धिप्रद और (पाकः) प्रत्येक वस्तु को पकानेवाला (सः) वह सूर्य (अत्र) इस (मा) मुझमें (आ+विवेश[२]) प्रविष्ट होवे, अर्थात् मुझे सूर्य का प्रकाश प्राप्त हो।

यह आत्मा में भी घटता है। यहाँ यास्काचार्य ने 'सुपर्णा आदित्यरश्मयः, अमृतस्य भागमुदकस्य' सुपर्ण का आदित्यरश्मि और अमृत का जल अर्थ किया है, यहाँ साक्षात् वर्णन पाया जाता है कि सूर्य की किरणें अमृत का हरण करती हैं, इसी हेतु किरण का नाम ही 'हरि', अर्थात् हरण करनेवाला वेदों में कहा गया।

विष्णु और समुद्र

पुराणों में यह अति प्रसिद्ध कथा है कि विष्णु भगवान् क्षीरसागर में निवास करते हैं। आप लोग यदि सावधान होकर इसको विचारेंगे तो ज्ञात हो जाएगा कि यह भी सूर्य भगवान् का ही वर्णन है। वैदिक भाषा में समुद्र नाम आकाश का है। यथा—

अम्बरम्। वियत्। व्योम। बर्हिः। धन्व। अन्तरिक्षम्। आकाशम्। आपः। पृथिवी। भूः। स्वयम्भूः। अध्वा। पुष्करम्। सगरः। समुद्रः। अध्वरम्। इति षोडशान्तरिक्षनामानि॥ —*निघण्टु १।३*

अम्बर, वियत्, व्योम, बर्हि, धन्व, अन्तरिक्ष, आकाश, आप्, पृथिवी, भू, स्वयम्भू, अध्वा, पुष्कर, सगर, समुद्र और अध्वर—

---

* ऋग्वेद १०।७३।११

१. ऋचि तुनुघमक्षुतङ् कुत्रोरुष्याणाम्। ६।३।१३३। इस सूत्र से वेदों में 'यत्र' का ही 'यत्रा' बन जाता है।

२. छन्दसि लुङ्लङ्लिटः। ३।४।६। धात्वर्थानां सम्बन्धे सर्वकालेष्वेते वा स्युः। वेद में लुङ्, लङ् और लिट् विकल्प से सब काल में होते हैं।

ये सोलह नाम आकाश के हैं। इसमें समुद्र शब्द भी विद्यमान है। निघण्टु के भाष्यकर्त्ता यास्क 'समुद्र' शब्द की निरुक्ति इस प्रकार करते हैं—

तत्र समुद्र इत्येतत् पार्थिवेन समुद्रेण सन्दिह्यते। समुद्रः कस्मात् समुद्द्रवन्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि समुदको भवति समुनत्तीति वा॥ —*निरुक्त २/३/१०*

पृथिवी पर जो जल-समूह-स्थान है, उसे भी समुद्र कहते हैं। जैसे हिन्दुस्तान का महासागर, अरेबियन सागर, पैसेफ़िक महासागर इत्यादि भी समुद्र ही कहलाते हैं। इस हेतु यास्काचार्य कहते हैं कि (पार्थिवेन समुद्रेण) पृथिवीस्थ समुद्र के साथ आकाशवाची समुद्र में सन्देह हो जाता है, क्योंकि समुद्र शब्द के जो अर्थ हैं वे प्रायः दोनों में घट जाते हैं। अब आगे समुद्र शब्द के अर्थ दिखलाते हैं (समुद्-द्रवन्ति+अस्मात्+आपः) जिससे जल द्रवीभूत होकर पृथिवी पर गिरे। आकाश से ही जल गिरता है। (समभिद्रवन्ति+एनम्+आपः) जिसमें जल प्राप्त हो। मेघरूप से आकाश में जल एकत्र होता है। (सम्मोदन्ते+अस्मिन्+भूतानि) जिसमें प्राणी आनन्द प्राप्त करें। आकाश में पक्षीगण विहार करते हैं। (समुदकः भवति) जिसमें बहुत जल हो। (समुनत्ति+वा) जो आर्द्र करे, इत्यादि अर्थ समुद्र शब्द का है। यह सागर में भी घट सकता है। इस प्रमाण से निश्चय हुआ कि समुद्र नाम आकाश का भी है। एक-दो मन्त्रों का भी उदाहरण देते हैं। यथा—

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम्॥

—*ऋग्वेद १०/११४/४*

सायणभाष्यम्—एकः सर्वकार्येष्वसहायः सुपर्णः सुपतनो मध्यमस्थानो देवः समुद्रम् अन्तरिक्षम् आविवेश आविशति। आविश्य च स इदं विश्वं सर्वं भुवनं भूतजातं विचष्टे अनुग्राह्य-तयाऽभिपश्यति। तमेवं रूपं देवं पाकेन परिपक्वेन मनसा अन्तितः समीपेऽहमपश्यमदर्शम्। किञ्च माता उदकानां निर्मात्री माध्यमिका वाक् तां रेळ्हि आस्वादयति। उपजीवनमात्रमत्र लक्ष्यते। स उ स खलु मातरं वाचं रेळ्हि लेढि। तामेवोपजीवति 'लिह आस्वादने'।

अथ दुर्गाचार्यभाष्यम्—एक एव अद्वितीयो यस्य पतने गमने। प्रतिमानं अन्यद् द्वितीयं नास्ति। स सुपर्णः सुपतनो वायुः समुद्रम् अन्तरिक्षम् नित्यं आविवेश आविशति न कदाचिदप्यनाविष्टस्तत्र।

स च पुनः सर्वभूतानुप्रवेशी तदाविश्य विश्वं भुवने सर्वाणि इमानि भूतानि विचष्टे अभिविपश्यति। यथा द्रष्टव्यानि। तमेवं वर्तमानं अहं पाकेन मनसा विपक्वप्रज्ञानेन सर्वगतमपि सन्तम् अन्तितः अन्तिकम् इव अपश्यम् ऋषिर्दृष्टदेवतासतत्वः, कस्मै चिदाचक्षाणो ब्रवीति। तं माता रेळिह स उ रेळिह मातरम्। माता माध्यमिका वाक् तमुपजीवति। परस्पराश्रयत्वात्तयोर्वृत्तेरध्यात्मवदिति। इति।

भाष्यकार सायण आदि के अनुसार भावार्थ—(एकः+सुपर्णः) एक अर्थात् असहाय, सुन्दर पतनशील वायु सर्वदा (समुद्रम्+आविवेश) आकाश में व्याप्त रहता है (सः) वह वायु (इदं विश्वं भुवनम्) इस सम्पूर्ण प्राणी को (विचष्टे) अच्छे प्रकार देखता है। (तम्) उसको (अन्तितः) समीप में ही (पाकेन+मनसा) परिपक्व मन से (अपश्यम्) मैं देखता हूँ (तम्) उसको (माता) जल निर्माण करनेवाली माध्यमिका वाक्, अर्थात् मेघस्थ विद्युत् (रेळिह) चाटता है और (सः+उ) वह विद्युत् को (रेळिह) चाटता है, अर्थात् एक-दूसरे का आधार है। पुनः—

सहस्रशृंगो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्। —*अथर्ववेद ४/५/१*

जो सहस्र-सींगवाला, वर्षा करनेवाला सूर्य है, वह (समुद्रात्) आकाश से उदित हुआ। सूर्य का उदय आकाश से होता है, इस हेतु यहाँ समुद्र शब्द का आकाश ही अर्थ हो सकता है। पुनः—

सो अर्णवो न नद्यः समुद्रियः प्रति गृभ्णाति विश्रिता वरीमभिः।
इन्द्रः सोमस्य पीतये वृषायते सनात् स युध्म ओजसा पनस्यते॥

—*ऋग्वेद १/५५/२*

यहाँ सायण "समुद्रिय" शब्द का अर्थ (समुद्रियः) 'समुद्द्रवन्त्यस्मादाप इति समुद्रमन्तरिक्षं तत्रभवः समुद्रियः' अन्तरिक्ष-व्यापी करते हैं, अर्थात् समुद्र जो अन्तरिक्ष उसमें जो व्यापक उसे "समुद्रिय" कहते हैं। मैं आप लोगों के लिए कहाँ तक बतलाऊँ आप लोग स्वयं पण्डित हैं। वेद पढ़कर देखिए पचासों स्थलों में समुद्र शब्द आकाशवाची आया है। अब आप लोग स्वयं मीमांसा कर सकते हैं। जब विष्णु देवता सूर्य से पृथक् माना गया और पूजा करने के लिए पृथिवी पर लाया गया तब पृथिवीस्थ समुद्र, अर्थात् सागर उनका निवास-स्थान बनाया गया।

जब विष्णु शब्द का अर्थ सूर्य था तब वह विष्णु समुद्र, अर्थात् अन्तरिक्ष (आकाश) में निवास करता था, पश्चात् जब विष्णु को

एक पृथक् देव बनाया तब उचित हुआ कि पृथिवीस्थ समुद्र (जलाशय) उसका निवास-स्थान माना जाए और यह सब घटना इस हेतु घटाई गई कि वेदों से सब संगति बैठती जाए, क्योंकि प्रजाओं को वेद पर ही अधिक विश्वास है। इससे भी आप लोगों को पूर्ण विश्वास हो गया होगा कि यह चतुर्भुज विष्णुदेव यथार्थ में सूर्य के ही प्रतिनिधि हैं।

अप् शब्द और विष्णु

अभी वैदिक कोश निघण्टु के प्रमाण से "अप्" शब्द भी आकाशवाची है, ऐसा मैंने आप लोगों से कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि अप् शब्द के अर्थ को भूलकर वा उसपर ध्यान न देकर संस्कृतभाषा में बड़ा ही अनर्थ मचा है। वेद के एक-दो शब्द के उलट-पुलट हो जाने से पीछे विविध आख्यायिकाएँ बन गई हैं, और अब वे यथार्थ सत्य मानी जा रही हैं। सुनिए, अप् शब्द के अर्थ की विस्मृति से क्या-क्या हानियाँ हुईं। अप् शब्द बहुवचन में आता है। प्रथमा में "आपः" बनता है। आजकल केवल जल के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। इसी हेतु लोग कहने लगे कि हमारा 'नारायणदेव' जल में निवास करता है। यथा—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

—मनु० १।१०

विष्णुपुराण कहता है—

इमं चोदाहरन्त्यत्र श्लोकं नारायणं प्रति।
ब्रह्मस्वरूपिणं देवं जगतः प्रभवाप्ययम्॥
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥[1]

आप लोग योगावस्थित होकर विचार कीजिए। भगवान् का निवास-स्थान सम्पूर्ण जगत् है। केवल जल में ही नहीं। यह मिथ्या ज्ञान अप् शब्द के अर्थ पर ध्यान न देने से ही विस्तृत हुआ। वास्तव में तो प्रथम विष्णु-रचयिता ने जानकर ही विष्णु को समुद्र निवास-स्थान दिया, पश्चात् बहुधा अनर्थ प्रवृद्ध हो गया। इसका यथार्थ अर्थ यह है—(आपः) आकाश (नारा+इति०) और समस्त विश्व

---

१. विष्णुपुराण १।३।५-६

के नेता होने से परब्रह्म का नाम नर है। आकाश उसका पुत्रवत् है इस हेतु नार कहलाता है (नरस्यापत्यं नार आकाशः। नयति प्रापयतीति नरः) और जिस हेतु यह आकाश उस परमात्मा का अयन, अर्थात् निवास-स्थान भी है इस हेतु नारायण कहलाता है। यहाँ 'आप' शब्द का अर्थ जल करने पर भी कोई क्षति नहीं, क्योंकि ईश्वर जल में भी व्यापक है, परन्तु क्षति वहाँ पहुँचती है जहाँ केवल जल में ही ईश्वर का निवास-स्थान मान लिया गया है, अन्यत्र नहीं। पुराणों में कहा गया कि वह परमेश्वर सम्पूर्ण जगत् का संहार करके जल में ही शयन करता रहता है। यथा—

यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः।
नाभिह्रदाम्बुजादासीद् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः॥

— *भागवत १।३।२*

जल में शयन करते हुए और योग-निद्रा लेते हुए जिस भगवान् के नाभि-कमल से प्रजापतियों के पति ब्रह्मा उत्पन्न हुए।

इत्यादि अनेक श्लोकों से सिद्ध है कि प्रलयकाल में भगवान् जल में सोता रहता है। क्या उस समय में वह व्यापक नहीं है? इस हेतु मैं कहता हूँ कि अप् शब्द के यथार्थ अर्थ न जानने से महान् अविवेक भारतवर्ष में प्रकीर्ण हो गया है, और भी सुनिए—

अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु बीजमवासृजत्। — *मनु० १।८*

यहाँ पर भी अप् शब्द को जलवाची मान सृष्टि के आदि में जल का ही सृजन किया, ऐसा अर्थ करते हैं, जो सर्वथा अशुद्ध है, क्योंकि—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।[1]

उस परमात्मा से प्रथम आकाश प्रकाशित हुआ न कि जल। आकाश से वायु। वायु से अग्नि। अग्नि से जल हुआ है। यह सृष्टि क्रम है। इस हेतु ऐसे-ऐसे स्थलों में "अप्" शब्द का अर्थ आकाश ही करना समुचित है। मैं यहाँ एक वेद का प्रमाण देता हूँ। आप लोग श्रवण कीजिए कैसा उत्तम वर्णन है। यथा—

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कं स्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे॥

— *ऋग्वेद १०।८२।५*

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्म० १

यहाँ प्रथम प्रश्न करते हैं। यदि ईश्वरीय-तत्त्व (दिवा+परः) द्युलोक, अर्थात् जहाँ तक सूर्य-नक्षत्रादि वर्त्तमान हैं, उससे पर है और (एना+पृथिव्या+परः) इस पृथिवी से भी पर है वा आकाश से भी पर है और (देवैः+असुरैः) प्राणप्रद व्यापक जितने पदार्थ हैं उन सबसे भी (यद्) यदि ईश्वरीय तत्त्व पर (अस्ति) है, अर्थात् ब्रह्मतत्त्व सबसे पर है तब इस अवस्था में यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड किस आधार पर कार्य कर रहा है और (आपः) आकाश ने (प्रथमम्) पहले (कं+स्वित्+गर्भम्) किस गर्भ को (दध्रे) धारण किया (यत्र) जिस गर्भ में (विश्वे+देवाः) सब सूर्य, नक्षत्र, पृथिवी, वायु आदि देव (समपश्यन्त) इकट्ठे होकर परस्पर कार्य साधन करते हैं। हे विद्वानो! इस प्रश्न का उचित समाधान करो। आगे उत्तर कहते हैं—

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥

—ऋग्वेद १०/८२/६

(आपः) आकाश ने (प्रथमम्) सर्वत्र प्रसिद्ध अथवा पहले (तम्+इत्) उसी परमात्मास्वरूप (गर्भम्) गर्भ को (दध्रे) धारण किया। जो सबको ग्रहण करे उसे गर्भ कहते हैं, अर्थात् सम्पूर्ण जगत् के धारण करनेवाले परमात्मा को ही आकाश ने अपने में धारण किया, क्योंकि व्यापक होने से वह आकाश में भी व्याप्त है, उसी (अजस्य) अजन्मा परमात्मा के (नाभौ+अधि) नाभि में, अर्थात् [णह बन्धने] जगत् को बाँधनेवाली शक्ति के आधार पर (एकम्+अर्पितम्) एक महान्, अचिन्त्य, अज्ञेय तत्त्व स्थापित है (यस्मिन्) जिस अचिन्त्य तत्त्व में (विश्वानि+भुवनानि) सकल जगत् (तस्थुः) स्थित हैं। हे जिज्ञासुओ! उस ब्रह्म के आधार पर ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड स्थित है।

यहाँ आप लोग विचारें। अप् शब्द का जल अर्थ करके कैसा अनर्थ किया है और इसी अनर्थ के कारण और इसी अर्थ के मूल पर लोग पीछे यह समझने लगे कि पहले जल की ही सृष्टि हुई और उस जल ने ईश्वर को अपने में धारण किया। जब अप् शब्द का आकाश भी अर्थ है तब इसका आकाश अर्थ क्यों न किया जाए। देखिए, एक अप् शब्द के अर्थ की विस्मृति से जगत् में क्या हानि पहुँची है, अब इस शब्द से भी आप मीमांसा करें। विष्णु (सूर्य) अप्, अर्थात् आकाश में रहता है और विष्णु-स्थान में कल्पित

यह चतुर्भुज विष्णु अप् अर्थात् जल में निवास करता है, अर्थात् इस कारण से भी विष्णु का स्थान क्षीरसागर माना गया है। जिस शब्द के दो-दो अर्थ हैं, ऐसे शब्दों को लेकर यह विष्णुदेव बनाये गये हैं, इसमें सन्देह नहीं।

सागर और विष्णु

सागर शब्द भी आकाश वाचक है। आकाश में मेघ रहता है इस हेतु कहीं मेघ को समुद्र वा सागर कहा है। उस आकाश-सगर से यह पृथिवीस्थ समुद्र बना है। ''सगरस्यापत्यं सागरः'' सगर के लड़के को सागर कहते हैं। आकाश का ही मानो यह समुद्र पुत्र है। इस हेतु यह सागर है। पुराणों में जो सगर राजा की कथा है वह सर्वथा मिथ्या है। लोगों ने सागर शब्द के भाव को न समझकर एक सगर राजा मान लिया है और विचित्र कथा गढ़ ली है। उपरिस्थ समुद्र से पृथिवीस्थ समुद्र बना है, इसमें वेद का ही प्रमाण है—

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि॥[१]

—निरुक्त २।३।११

इसका भाव यह है कि उत्तर समुद्र से, अर्थात् उपरिस्थ आकाश से अधः समुद्र को, अर्थात् नीचे के पृथिवीस्थ सागर को सूर्य ने बनाया।

इसका भाव भी यही है कि प्रथम यह पृथिवी सूर्य के समान अग्नि गोलक ही थी। धीरे-धीरे सहस्रों वर्षों के अनन्तर यह अब इस दशा में है। इस महान् परिवर्तन का कारण एक महान् अग्निशक्ति है और जगत् का कारण यह सूर्य माना जाता है। इस हेतु कह सकते हैं कि इन सबका कारण सूर्यदेव ही है। हे विद्वानो! इस कारण से भी कल्पित विष्णुदेव का निवास-स्थान यह सागर माना गया है, इत्यादि कारण आप लोग स्वयं अन्वेषण कर सकते हैं। लोगों ने ब्रह्मचर्य को त्याग दिया, इस हेतु वेदाध्ययन छूट गया। इस हेतु हे विद्वानो! पृथिवी पर यह मिथ्या ज्ञान विस्तृत हो, लोगों को भ्रम में फँसा रहा है।

विष्णु और शेषनाग

शेषनागजी विष्णु भगवान् के पर्य्यङ्क (पलङ्ग, खटिया, बिछौना) माने गये हैं। इसका भी कारण सूर्य और द्व्यर्थक (दो अर्थवाले)

---

१. ऋग्वेद १०।९८।५

शब्द हैं। प्रश्न यहाँ यह होता है कि सूर्य ने तो इस पृथिवी और बृहस्पति आदि अनेक ग्रहों को आकर्षण शक्ति से सँभाल रक्खा है, परन्तु सूर्य किसके आधार पर है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि इस सूर्य को भी किसी अन्य महान् सूर्य ने वा महा आकर्षण शक्तियुक्त किसी मूर्त्त वस्तु ने आकर्षण द्वारा पकड़ रक्खा है। अब इसमें यह प्रश्न होगा कि उसको किसने धर रक्खा है। फिर आप जो बतलावेंगे उसको किसने पकड़ रक्खा है? इस प्रकार अन्वेषण करते-करते अन्त में कहना पड़ेगा कि कोई महान् अचिन्त्य शक्ति है जिसकी नाभि में यह जगत् स्थित है, उसी महान् देव के नाम ओम्, परमात्मा, ब्रह्म आदि हैं। इसी के आधार पर सब हैं। उसी ब्रह्म का नाम शेष है, क्योंकि अन्त में वही शेष (बाकी) रह जाता है।

एक बात यहाँ और भी जाननी चाहिए। सूर्य शब्द उपलक्षण मात्र है। सूर्य शब्द से समस्त ब्रह्माण्ड का ग्रहण है। सूर्य का वही शेष, अर्थात् भगवान् आधार है, परन्तु शेष का अर्थ साँप भी होता है। यथा—

शेषोऽ नन्तो वासुकिस्तु सर्पराजोऽथ गोनसे। —*अमरकोश*[1]

इस हेतु जब विष्णु एक पृथक् देव बनाया गया तब पृथिवीस्थ शेष, अर्थात् सर्प उसका शयनाधार कल्पित हुआ। इसमें केवल यही कारण नहीं है, अन्य भी हैं।

अनन्त और विष्णु

अनन्त नाम आकाश और सर्प दोनों का है, क्योंकि आकाश का हम लोगों की बुद्धि से अन्त नहीं, अतः सूर्य का शयनाधार आकाश है और सूर्यस्थानीय विष्णु का आधार अनन्त, अर्थात् सर्प है।

हरि और विष्णु

वेदों में हरि शब्द सूर्य की किरण और चक्र आदि अर्थ में आया है। यथा—

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वासना दिवमुत्पतन्ति॥

—*ऋग्वेद १।१६४।४७*

आ द्राभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः।
अष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः॥४॥

---

१. अमर० प्रथमं काण्डम्, पाताल० ८.४

आ विंशत्या त्रिंशता याह्यर्वाङ चत्वारिंशता हरिभिर्युजानः।
आपञ्चाशता सुरथेभिरिन्द्रा षष्ट्या सप्तत्या सोमपेयम्॥ ५॥
आशीत्या नवत्या याह्यार्वाङ शतेन हरिभिरुह्यमानः।
अयं हि ते शुनहोत्रेषु सोम इन्द्र त्वाया परिषिक्तो मदाय॥ ६॥

—*ऋग्वेद २।१८।४-६*

इत्यादि मन्त्रों में हरि शब्द सूर्य की किरण अर्थ में आता है, क्योंकि वे चारों ओर से व अपनी ओर सब पदार्थों का हरण, अर्थात् खींच रही हैं। वेदों में हरि शब्द बहुत प्रयुक्त हुआ है।

अथ मन्त्रार्थ—(सुपर्णाः) सुन्दर पतनशील (हरयः) अपनी ओर खींचनेवाली किरणें (नियानम्) सबके चलानेवाले (कृष्णम्) महाकर्षण-शक्तियुक्त सूर्य को लेकर (दिवम्+उत्पतन्ति) द्युलोक को जा रही हैं। सायंकाल का वर्णन है। आगे अलङ्काररूप से वर्णन करते हैं (इन्द्र) हे सूर्य! (द्वाभ्याम्+हरिभ्याम्) दो किरणों से वा चार से वा छह से वा आठ से वा बीस से, तीस से वा चालीस से वा पचास से वा साठ से वा सत्तर से वा अस्सी से वा नव्वे वा सौ से, अर्थात् अनन्त किरणों से हम लोगों के पदार्थों की रक्षा करो। यहाँ दो-चार संख्या तो कुछ नहीं हैं अभिप्राय बहुत किरणों से है, परन्तु हरि नाम साँप का भी है। यथा—

यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु।
शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु॥ —*अमर०*[1]

अब थोड़ी देर तक यह विचार कीजिए कि जिस सर्प पर विष्णु भगवान् शयन करते हैं उसके सहस्त्रफण माने गये हैं और वह शेषनाग महाश्वेत कहे गये हैं। क्या आप लोगों ने सहस्त्रफणोंवाले और श्वेत साँप को पृथिवी पर कहीं देखा वा सुना है? साँप के सहस्त्र फण नहीं होते और न वह श्वेत होता है। यह सूर्य के चक्र का वर्णन है, मानो सूर्य एक देवता है, जो अपने चक्र पर बैठा या सोया हुआ है। वह चक्र आप देखते हैं, वह सहस्त्रकिरणवाला है और महाश्वेत है। सहस्त्र शब्द अनन्त वाचक है, अर्थात् अनन्त-किरणयुक्त अपने श्वेत (सफ़ेद White) चक्र पर मानो सूर्यदेव विश्राम करता हुआ विद्यमान है। वह चक्र अपनी ओर परितः स्थित पदार्थों को बड़े

---

१. हमें बहुत खोजने पर भी यह श्लोक अमरकोश में नहीं मिला।
—**जगदीश्वरानन्द**

वेग से खींच रहा है, इस हेतु हरि शब्द से व्यवहृत होता है। अब जिस हेतु, हरि शब्द का अर्थ सर्प भी होता है इस हेतु सूर्यस्थानीय विष्णुदेव का पर्यङ्क (खटिया) सहस्र-फणयुक्त श्वेत शेषनाग कल्पित किया गया है। जो लोग सर्प से अति परिचित हैं, उन्हें यह भी ज्ञात है कि सर्प अपनी नेत्रशक्ति से किञ्चित दूरस्थ छोटे-छोटे पक्षियों को अपने मुख में खींच लेता है। यह सर्प में विशेष गुण है। इस हेतु भी कुछ सादृश्य सूर्य-किरण से साँप रखता है। शेषनाग को सहस्र फण और श्वेत मानना ही सङ्केत करता है कि यह सूर्य के चक्र का वर्णन है॥ इत्यलम्॥

विष्णु और चतुर्भुज

अभी तक विष्णु के वाहन आदि का निरूपण किया है। अब साक्षात् उनके स्वरूप का निर्णय कहते हैं। पुराणों में विष्णु चतुर्भुज अर्थात् चार भुजावाले माने गये हैं। यथा—

केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गचक्रं गदाधरं धारणया स्मरन्ति॥

—श्री० भा० २/२/८

किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं पीताम्बरं वक्षसि लक्षितं श्रिया।

—श्री० भा० २/९/१५

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शंखगदाद्युदायुधम्।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्॥

—श्री० भा० १०/३/९

मेघश्यामशरीरस्तु पीतवासाश्चतुर्भुजः।
शेषशायी जगन्नाथो वनमालाविभूषितः॥

—देवीभागवत ३/२/२३

इत्यादि अनेक श्लोकों से निखिल पुराण विष्णु को चतुर्भुज मानते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु विष्णुलोक निवासी पार्षदों को भी चतुर्भुज ही कहकर वर्णन करते हैं। यथा—

न तत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः॥ १०॥
श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः।
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणिप्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः॥ ११॥

—श्री० भागवत २/९

विष्णुलोक में न माया और न मायावी है, किन्तु विष्णु के भक्त-

सुर-असुर से पूजित शुद्ध कमलाक्ष, पीतवस्त्रधारी सुन्दर हैं, और सभी चारबाहुवाले हैं, इत्यादि।

विष्णु चतुर्भुज क्यों माने गये हैं? विष्णु के चार मुख या चार नेत्र या तीन या पाँच नेत्र कहीं कहे गये हैं? चार हाथ ही क्यों माने गये हैं? इसका भी कारण सूर्यदेव ही है। आप देखते हैं कि सूर्य के किरणरूप भुज (बाहु) चारों ओर फैले हुए हैं। किरणों को सब कर, भुज, हस्त आदि कहते हैं। किरण ही मानो सूर्य के भुज (बाहु) हैं। यहाँ पूर्व की अपेक्षा एक और विलक्षणता है। व्याकरण के अनुसार समास करके यह संगति बैठाई गई है। समास यह है—(चतसृषु दिक्षु भुजाः किरणा यस्य स चतुर्भुजः सूर्यः) (चतसृषु) चारों (दिक्षु) दिशाओं में (भुजाः) किरण हैं जिसके, वह चतुर्भुज, अर्थात् सूर्य।

सूर्य इस हेतु चतुर्भुज है कि इसके किरणरूप भुज चारों दिशाओं में व्याप्त हैं। ऐसे-ऐसे स्थलों में व्याकरण से मध्यमपदलोपी समास हो जाता है, परन्तु चतुर्भुज शब्द में यह भी समास होगा कि "**चत्वारो भुजा बाहवो यस्य स चतुर्भुजः**" जिसके चार भुज हों, वह चतुर्भुज। अब आप लोग ध्यान दीजिए। सूर्य के स्थान में जब विष्णुदेव कल्पित हुए तब चतुर्भुज शब्द के चारबाहुवाला अर्थ करके विष्णु के चार भुजा दिये गये। यहाँ केवल समासकृत विलक्षणता से अर्थ का परिवर्तन हुआ है और यह घटना घटाई गई।

विष्णु और अष्टभुज, दशभुज

कहीं-कहीं विष्णु के आठ और दश भुजाओं का भी वर्णन पाया जाता है। यथा—

कृतपादः सुपर्णांसे प्रलम्बाष्टमहाभुजः।
चक्रशंखासिचर्मेषु धनुः पाशगदाधरः॥

—श्री० भा० ६।४।३६

महामणिव्रातकिरीटकुण्डलप्रभापरिक्षिप्तसहस्रकुन्तलम्।
प्रलम्बचार्वष्टभुजं सकौस्तुभं श्रीवत्सलक्ष्म्या वनमालयावृतम्॥

—श्री० भा० १०।८९।५६

जो गरुड़ पर आरूढ़ हैं, जिनके लम्बे-लम्बे आठ हाथ हैं और उन आठों हाथों में चक्र-शङ्खादि हैं, पुनः जो विष्णु किरीट कुण्डलादि से सुभूषित हैं, इत्यादि अनेक स्थानों में विष्णु के आठ भुज माने

गये हैं, परन्तु कहीं-कहीं दश भुजाओं का भी उल्लेख पाया जाता है। यथा—

पितामहादपि वरः शाश्वतः पुरुषो हरिः।
कृष्णो जाम्बूनदाभासो व्यभ्रे सूर्य इवोदितः॥ २॥
दशबाहुर्महातेजा देवतारिनिषूदनः।
श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदैवतपूजितः॥ ३॥

—महाभारत अनुशासन० १४७

यहाँ पर विष्णु के विशेषण में "दशबाहु" शब्द आया है। इस सबका कारण यह है कि दिशा कहीं चार, कहीं आठ और कहीं दश मानी गई हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण ये चार दिशाएँ हैं। पूर्वोक्त चार और आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य और ईशान मिलकर आठ दिशाएँ होती हैं। इन चारों को विदिक् वा उपदिश कहते हैं। जो दो-दो दिशाओं के मध्यम में कोण हैं वे ही आग्नेयादि दिशाएँ मानी गई हैं। इन आठों में ऊर्ध्वा (ऊपर की) दिशा और ध्रुवा (नीचे की) दिशा जोड़ने से दश दिशाएँ होती हैं। संस्कृत-शास्त्रों में इन तीनों प्रकारों से दिशा का हिसाब किया जाता है। यह बहुत प्रसिद्ध बात है। जब चार दिशाएँ मानिए तब सूर्य चतुर्भुज हैं, क्योंकि चारों दिशाओं में इसके भुज हैं। जब आठ दिशाएँ मानिए तब सूर्य अष्टभुज है, क्योंकि आठों दिशाओं में इसके भुज हैं, जब दश दिशाएँ मानिए तब सूर्य दशभुज हैं, क्योंकि दशों दिशाओं में उसकी किरण हैं।

अब विष्णु के आठ वा दश बाहु होने के कारण से भी आप लोग सुपरिचित हो गये होंगे। यहाँ पर भी व्याकरण के समास से ही अर्थ घटाया गया है। सूर्यपक्ष में "**अष्टसु दिक्षु भुजा यस्य सोऽष्टभुजः**" और विष्णुपक्ष में "**अष्टौ भुजौ यस्य सोऽष्टभुजो विष्णुः।**" सूर्यपक्ष में चार, आठ वा दश शब्द से चार, आठ वा दश दिशाओं का ग्रहण होता है और विष्णुपक्ष में ये तीनों शब्द बाहु के ही विशेषण होते हैं, इत्यादि अनुसन्धान कीजिए। सर्वत्र सूर्य का ही स्थानापन्न विष्णु को देखेंगे। मुझे प्रतीत होता है जिस समय विष्णुदेव बनाये गये उस समय इनको अवश्य दश बाहु दिये गये। धीरे-धीरे अब विष्णु के चार भुज रह गये हैं और जब इस अलङ्कार को लोग सर्वथा भूल गये और उनको साक्षात् ब्रह्म ही मानने लगे तब इनको कहीं हस्तादि रहित, कहीं अव्यक्त, कहीं सहस्रबाहु, कहीं सृष्टिकर्त्ता-धर्त्ता-संहर्त्ता आदि सभी कुछ कहने लगे।

सूर्यदेव से एक महान् देव बनकर गृहपूजित होने लगे।

विष्णु और श्वेतवर्ण

पूर्वकाल में विष्णु का श्वेत (सफ़ेद, गौर White) वर्ण माना गया। इसमें अब भी प्रमाण पाये जाते हैं। जहाँ-जहाँ महाविष्णु का वर्णन आता है वहाँ पश्चात् रचित पुराणों में भी विष्णु का वर्ण श्वेत ही कहा गया। देखिए—

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशान्तये॥

यह श्लोक अति प्रसिद्ध है। आजकल प्रचलित सत्यनारायण की पद्धति में दिया हुआ है। यह पद्मपुराण का एक भाग है। श्वेतवस्त्रधारी, चन्द्रमा समान श्वेतवर्ण, चतुर्भुज और प्रसन्न वदन विष्णु का सर्वविघ्नों की शान्ति के लिए ध्यान करे। यहाँ विस्पष्टतया विष्णु का वर्ण श्वेत कहा गया है। सूर्यस्थानीय विष्णु को श्वेत मानना उचित ही है। इससे भी सिद्ध होता है कि विष्णु भगवान् सूर्य के प्रतिनिधि हैं।

विष्णु और कृष्णवर्ण

परन्तु बहुधा विष्णुदेव का वर्ण (रूप) श्याम वा कृष्ण (काला) कहा गया है। इसमें भी सूर्य ही कारण है। इसका वर्णन करते हुए मुझे महान् शोक होता है। हे विद्वान् पुरुषो! किस प्रकार लोग अर्थ भूलकर वास्तविक तात्पर्य से विमुख हो सत्य का विनाश कर रहे हैं और पश्चात् जगत् में कैसा अनर्थ उत्पन्न हुआ। वेदों में सूर्यदेव को कृष्ण कहा है। सूर्य में आकर्षण शक्ति के अधिक होने के कारण सूर्य को कृष्ण कहा गया है, आकर्षण शक्तियुक्त वस्तु का नाम कृष्ण है। यद्यपि प्रत्येक परमाणु में भी आकर्षण शक्ति विद्यमान है तथापि पृथिवी आदि की अपेक्षा से सूर्य बहुत ही बड़ा है। इस सौर जगत् में सूर्य से बड़ा अन्य ग्रह नहीं है, अतः सूर्य में बहुत ही आकर्षण है, जिसका वर्णन 'वेदविद्या-निर्णय' में विस्तार से करेंगे। इसी कारण सूर्य को वेदों में कृष्ण कहा गया है और जिस लोक-लोकान्तर को सूर्य अपनी आकर्षण शक्ति पर चला रहा है वा प्रकाश पहुँचा रहा है उनको भी कृष्ण कहते हैं, क्योंकि उनमें भी आकर्षण है जो उनकी अपनी गति में सहायक हो रहा है। यदि केवल सूर्य में ही आकर्षण होता और पृथिवी आदि में नहीं होता तो सूर्य के चारों ओर भ्रमण करनेवाली पृथिवी आदि भूमि सूर्य में गिरकर भस्म हो

गई होती। इस हेतु पदार्थमात्र में आकर्षण होने से पृथिवी आदि भी कृष्ण कहलाने योग्य हैं। इनमें वेदों के प्रमाण देखिए—

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥

—ऋ० १।१६४।४७

(हरयः) जल के हरण करनेवाले, अतएव (अपः+वसानाः) जल से मेघ को पूर्ण करनेवाले (सुपर्णाः) किरण (नियानम्) अपने नियम में पृथिवी आदि जगत् को स्थिर रखनेवाले (कृष्णम्) आकर्षण शक्तियुक्त सूर्य के उद्देश से (दिवम्) द्युलोक को (उत्पतन्ति) जा रहे हैं। जब वे किरण (ऋतस्य+सदनात्) सूर्य के भवन से (आववृत्रन्) लौट आते हैं (आत्+इत्) तभी (घृतेन) जल से (पृथिवी) पृथिवी (व्युद्यते) भीगकर गीली हो जाती है।

यह उत्तरायण-दक्षिणायन का अथवा सायं-प्रातःकाल का वर्णन है। दक्षिणायन होने पर वर्षा का आरम्भ हो जाता है। सायंकाल सूर्य किरण पृथिवी के एक भाग से दूसरे भाग को जाती हैं। लौटने के समय प्रातःकाल ओस से पृथिवी भीग जाती है। यहाँ साक्षात् सूर्य को कृष्ण कहा है। पुनः—

आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

—ऋ० १।३५।२

अर्थ—रज नाम पृथिवी आदि लोक का है, यास्क कहते हैं—लोका रजांस्युच्यन्ते।—निरुक्त ४।१९। (आकृष्णेन+रजसा) आकर्षण-युक्त पृथिवी आदि लोक के साथ (वर्तमानः) घूमता हुआ (सविता) सूर्य (देवः) देव (अमृतम्) बृहस्पति आदि अमर ग्रहों को (मर्त्यम्+च) और मरणधर्मा इस मर्त्यलोक को (निवेशयन्) यथास्थान में स्थापित करता हुआ और (भुवनानि) भूतजात, अर्थात् प्राणिमात्र को (पश्यन्) दर्शन शक्ति देता हुआ (हिरण्ययेन+रथेन) हरण करनेवाले रथ से (आयाति) आ रहा है।

यहाँ आकर्षणयुक्त पृथिवी आदि को कृष्ण कहा है। पुनः—

अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम्।
आस्थाद्रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः॥

—ऋ० १।३५।४

अर्थ—(चित्रभानुः) चित्रभानु (यजतः) यष्टव्य, आदरणीय (सविता) सूर्य (कृष्णा+रजांसि) प्रकाशरहित पृथिवी, चन्द्र, मङ्गल आदि लोकों में (तविषीम्) प्रकाश को (दधानः) स्थापित करता हुआ (रथम्+आस्थात्) रथ पर स्थित है। आगे रथ के विशेषण कहते हैं (कृशनैः) कृश, अर्थात् छोटे-छोटे अनेक नक्षत्रों से (अभीवृतम्) चारों ओर आवृत अर्थात् घेरा हुआ (विश्वरूपम्) नील, पीत, कृष्ण आदि सब रूप=रंग से युक्त (हिरण्यशम्यम्) हरण करनेवाले शंकु=कीलों से संयुक्त और (बृहन्तम्) बहुत बड़ा है।

यहाँ सूर्य से प्रकाश्यमान लोक को कृष्ण कहा है, इत्यादि वेद में बहुत प्रमाण हैं। आप लोग स्वयं अन्वेषण कर विचारें। किस प्रकार सूर्य और अन्य पृथिवी आदि लोक कृष्ण कहलाने लगे और आकर्षण अर्थ भूलकर किस प्रकार इस शब्द के अन्यान्य अर्थ करने लगे।

सूर्य के कृष्ण और श्वेत दो रूप

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सम्भरन्ति॥

—यजुः० ३३/३८

अथ महीधरभाष्यम्—सूर्यो द्योः द्युलोकस्योपस्थे उत्संगे मित्रस्य वरुणस्य च तद्रूपं कृणुते कुरुते। येन रूपेण जनानभिचक्षे अभिचष्टे पश्यति। मित्ररूपेण सुकृतिनोऽनुगृह्णाति वरुणरूपेण दुष्कृतिनो निगृह्णातीत्यर्थः। अस्य सूर्यस्य अन्यत् एकं पाजोरूप-मनन्तम् कालतो देशतश्चापरिच्छेद्यम्। रुशत् शुक्लं दीप्यमानं विज्ञानघनानन्दं ब्रह्मैव। अन्यत् कृष्णं द्वैतलक्षणं रूपं हरितः दिशः इन्द्रियवृत्तयो वा संभरन्ति धारयन्ति। इन्द्रियग्राह्यं द्वैतरूपमेकम् एकं शुद्धं चैतन्यमद्वैतमिति द्वे रूपे सूर्यस्य सगुणनिर्गुणं ब्रह्म सूर्य एवेत्यर्थः।

(सूर्यः) सूर्य (द्योः+उपस्थे) द्युलोक की गोद में (मित्रस्य+वरुणस्य) मित्र और वरुण के (तद्+रूपम्) उस रूप को (कृणुते) करता है जिस रूप से मनुष्यों को (अभिचक्षे) देखता है, अर्थात् मित्ररूप से सुकृती जनों के ऊपर अनुग्रह करता है और वरुणरूप से पापीजन को दण्ड देता है। (अस्य) इस सूर्य का (अन्यत्) एक (पाजः) रूप (अनन्तम्) देश और काल से अपरिच्छेद्य (रुशत्) देदीप्यमान रोशनी देनेवाला श्वेत है, अर्थात् विज्ञानघनानन्द ब्रह्म ही

है और (अन्यत्) एक (कृष्णम्) कृष्ण अर्थात् द्वैत लक्षणरूप को (हरितः) दिशाएँ—इन्द्रियाँ (सम्भरन्ति) धारण करती हैं, अर्थात् सूर्य के दो रूप हैं एक कृष्ण अर्थात् इन्द्रियग्राह्य द्वैतरूप और दूसरा श्वेत, अर्थात् शुद्ध चैतन्य अद्वैतलक्षण, अर्थात् सगुण-निर्गुण ब्रह्म सूर्य ही है।

यह महीधरकृत भाष्य का अर्थ है, इसमें आप देखते हैं कि महीधर भी सूर्य के दो रूपों को स्वीकार करते हैं, एक (रुशत्) शुक्ल और दूसरा कृष्ण। शुक्ल को वे शुद्ध, चैतन्य, अद्वैत और कृष्ण को इन्द्रियग्राह्य कहते हैं। ये लोग पौराणिक समय के भाष्यकर्त्ता हुए हैं, इस हेतु सूर्य को भी परम पूज्यदेव मान ब्रह्म ही समझते हैं। इसका यथार्थ अर्थ यह है कि द्युलोक के मध्य में स्थित हो सूर्य सम्पूर्ण परितःस्थित जगत् में रूप दे रहा है और सूर्य के स्वयं दो रूप हैं। एक (रुशत्) रोशनी देनेवाला श्वेत और दूसरा आकर्षण करनेवाला कृष्ण। जिस कृष्ण (आकर्षण) को (हरितः) हरण करनेवाली किरण (संभरन्ति) धारण किये हुए हैं।

हे कोविदवरो! अब आप लोग विचार कर सकते हैं कि विष्णु के दो रूप क्यों माने गये और अधिकतर कृष्णरूप ही क्योंकर वर्णित है। सूर्यस्थानापन्न विष्णु के श्वेत और कृष्ण दोनों रूपों का मानना बहुत ही योग्य है। सूर्य में कृष्ण शब्द का अर्थ आकर्षण था, विष्णु में कृष्ण शब्द का अर्थ केवल काला वा श्याम ही रह गया। सूर्य अपने आकर्षण से लोक-लोकान्तर को अपनी ओर खींचता है, विष्णुदेव अपनी कृष्ण छवि से खींचते हैं। देखिए, अर्थ में कितना परिवर्तन हुआ है।

राम-कृष्ण आदि अवतार

इसी कारण विष्णु के जितने अवतार माने गये हैं वे सभी कृष्ण वा श्याम कहे गये हैं। वामन, परशुराम, व्यास आदि सब अवतारों का रूप श्याम ही कहकर वर्णित हैं। क्या यथार्थ में श्रीरामचन्द्र अयोध्यावासी दशरथपुत्र और मथुरावासी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णजी और वेदव्यासादि कृष्ण (काले) थे? कदापि नहीं। वे लोग कदापि कृष्ण (काले) नहीं थे। राजवंश और ऋषिवंश में पहले कोई काले नहीं होते थे। बड़े गौर और सुन्दर हुआ करते थे। क्या यह सम्भव है कि एक ही उदर से एक बहुत काला हो और एक बहुत ही गौर उत्पन्न हो जैसे लक्ष्मण और शत्रुघ्न। दशरथ अत्यन्त गौर और

उनके पुत्र रामचन्द्र कृष्ण (काले)। क्या यह सम्भव है? नहीं। यदि कोई रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र आदि राजपुत्र राजा हुए हैं तो अवश्य वे गौरवर्ण के होंगे। यदि केवल विष्णुवत् वे भी आलङ्कारिक हैं तब निःसन्देह उन्हें कृष्णवर्ण मान सकते हैं। वास्तव में बात यह है कि पहले तीन ही देवों की सृष्टि हुई। पश्चात् अनेक प्रतापशाली राजा-महाराजा भी इनके अवतार माने गये। इस हेतु वे सभी कृष्ण वर्ण बन गये। जब ये ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों देव काल्पनिक और आलङ्कारिक सिद्ध होते हैं तब कब सम्भव है कि इन देवों के अवतार यथार्थ सिद्ध हों। इस हेतु यदि आप लोग रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र आदि को राजा मानते हैं तो आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि वे कृष्णवर्ण के नहीं थे जब से वे विष्णु भगवान् के अवतार समझे गये हैं तब से ही इनको कवि लोग वा भक्त लोग श्याम करके वर्णन करने लगे।

विष्णु और श्याम-वर्ण

यथार्थ में विष्णु का रूप कृष्ण वा श्वेत कल्पित हुआ, इसका विस्तार से वर्णन कर चुके, परन्तु विष्णु को श्याम भी कहा है, इसका क्या कारण है? यद्यपि कृष्ण और श्यामवर्ण में इतना भेद नहीं और सब ग्रन्थों में कृष्ण और श्याम दोनों रूपों का साथ-साथ वर्णन आता है, जहाँ ये दोनों शब्द पर्याय ही हैं तथापि यहाँ विचारने की एक बात है। बहुत दिनों के अनन्तर जब विष्णु के यथार्थरूप को लोग भूल गये तब इनको ब्रह्म ही समझने लगे और आकाश से उपमा देने लगे, क्योंकि ब्रह्म की उपमा प्रायः आकाश से अधिकतर दी गई है तब इस उपमा के साथ-साथ लोग यह भी मानने लगे कि हमारा पूज्य देव विष्णुरूप में भी, आकाश के समान ही है। यह अनभिज्ञ भक्तों की कल्पना थी, क्योंकि आकाश में कोई रूप नहीं, परन्तु शून्याकाश श्याम प्रतीत होता है। इस हेतु विष्णु को भी श्याम ही मानने लगे। इसका एक यह भी अभिप्राय हो सकता है कि जैसे आकाश में श्यामरूप कल्पितमात्र है। इसी प्रकार रूपरहित परमात्मा विष्णुदेव में श्याम वर्ण की कल्पनामात्र है, यथार्थ में विष्णु का कोई रूप नहीं है। इसमें सन्देह नहीं, यदि इस हेतु विष्णु को श्याम कहने लगे तो यह कल्पना विद्वत्ता की है। विष्णु को श्याम मानने में दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि **श्याम** नाम सुन्दररूप का है। काव्यादिक ग्रन्थों में उक्त है कि "**शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे**

च सुखशीतला। तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा श्यामेत्यभिधीयते॥'' अर्थात् जो परम सुन्दरी स्त्री हो उसे काव्य में **श्यामा** कहा है। श्री सीता महारानी यद्यपि गौरवर्ण थी तथापि वाल्मीकिजी ने उनका **श्यामा** कहकर वर्णन किया है, इसी प्रकार द्रौपदी भी श्यामा कही गई हैं। उसी कारण भगवती देवी को श्यामा कहते हैं, क्योंकि उन सब देवियों से सुन्दरी कोई अन्य देवी नहीं। श्यामा स्त्रीलिङ्ग है। इसका पुल्लिङ्ग श्याम होगा। जब भारतवासी आचरण में बहुत गिर गये तब अपने देव को सांसारिक बालकवत् परम सुन्दर, मोहनरूप मानने लगे। इतना ही नहीं किन्तु बालरूप की ही मूर्त्ति बनाकर पूजने लगे, क्योंकि बालरूप जैसा सुन्दर होता है वैसा युवा वा वृद्ध रूप नहीं। किसी मन्दिर में राम वा कृष्ण के वृद्धरूप की मूर्त्ति की पूजा नहीं देखी जाती। रामलीला आदि में भी आजकल सदा एक बालक रूप की ही मूर्त्ति को दिखलाते हैं। रावण के वध के समय रामचन्द्र बालक नहीं थे, परन्तु उस समय में भी वही बालरूप आप देखते हैं। बल्लभाचार्य के सम्प्रदाय में तो युवा वा वृद्ध कृष्ण हैं ही नहीं। एवमस्तु। इस हेतु से भी अपने देव को श्याम कहने लगे।

यहाँ पर एक यह विषय भी चिरस्मरणीय है, क्योंकि यह ऐतिहासिक है। श्याम शब्द का अर्थ सुन्दर कैसे हुआ? श्याम तो एक प्रकार का रंग–रूप है। अन्वेषण से इसका कारण विदित हुआ है कि प्रथम आर्य लोग बड़े श्वेत वा गौरवर्ण थे और यहाँ के जङ्गली लोग बड़े काले थे। ये लोग भारतभूमि पर अभी तक उस रूप में विद्यमान भी हैं। आर्यलोग उन जङ्गली, काले वर्णों की कन्याओं से सम्बन्ध करने लगे। इन दोनों के संयोग से जो सन्तान उत्पन्न होने लगे वे कुछ विलक्षण रंग के हुए। न तो वे पिता के समान परम गौर ही हुए और न माता के समान परम काले ही हुए। वे एक प्रकार से श्याम हुए। यह रूप आर्यों को स्वभावतः अच्छा प्रतीत होने लगा, इस हेतु श्यामवर्ण सुन्दर अर्थ में प्रयुक्त होने लगा, पश्चात् श्याम शब्द का अर्थ ही सुन्दर हो गया। आजकल भी श्याम बालक सुन्दर प्रतीत होते हैं। अथवा प्रकृति में भी श्यामवर्ण अन्य वर्णों की अपेक्षा कवियों की दृष्टि में अधिक सुन्दर भासित होता है, इत्यादि कारणों से श्याम शब्द का अर्थ सुन्दर होने लगा। ऐसा बुद्धिमान्जन वर्णन करते हैं।

सत्त्वगुण विरोधी कृष्णवर्ण

संस्कृत-शास्त्रों में सत्त्वगुण का स्वरूप श्वेतवर्ण और तमोगुण का कृष्णवर्ण वर्णित है। तमोगुणी यमराज का स्वरूप कृष्ण है। इनके दूत भी कृष्ण हैं। शूद्रों का रूप इसी हेतु कृष्ण कहा है। यह मर्यादा संस्कृतसाहित्य में बहुत दिनों से चली आती है। इस अवस्था में विष्णु भगवान् सात्त्विक होने पर भी कृष्ण वा श्याम क्योंकर कहलाये। यह प्रश्न आधुनिक पौराणिकों को अचिन्त्य सङ्कट में डालनेवाला है। पुराणों में इसका यथार्थ समाधान एक भी नहीं। यह शङ्का पौराणिकों को भी समय-समय पर हुई है और अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर भी कहा है, परन्तु वे सब कल्पित हैं। श्रीमद् भागवत में कृष्ण की स्तुति करते हुए वसुदेवजी ने कहा—

स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया
बिभर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः।
सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं
कृष्णं च वर्णं तमसा जनात्यये॥

— *भा० १०।३।२०*

हे भगवन्! आप अपनी माया से त्रिलोक की रक्षा के लिए सात्त्विक गुणप्रधान शुक्ल (श्वेत=सफ़ेद) रूप को धारण करते हैं। सृष्टि के हेतु राजस् गुणप्रधान रक्तरूप को धारण करते हैं और नाश के लिए तामस् गुणप्रधान कृष्णरूप को धारण करते हैं।

यहाँ पर वसुदेव ने भगवान् के शुक्ल, रक्त और कृष्ण इन तीनों रूपों का तीन कार्य के लिए वर्णन किया है। पुराणों में प्रधानतया विष्णु रक्षक, महादेव संहारकर्त्ता, और ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता माने गये हैं। इस विवरण से विष्णु को केवल श्वेत ही होना चाहिए। यदि यह कहा जाए कि विष्णु अवतार लेकर दुष्टों का संहार करता है, इस हेतु अवतारावस्था में इनका कृष्णवर्णस्वरूप होना युक्ति-युक्त है तो ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि प्रधानता का ग्रहण होता है। यद्यपि विष्णु युद्ध करता है, परन्तु इसका प्रधान कार्य रक्षा है। यूँ तो ब्रह्मा, महादेव के भी पालन, संहरण, सृष्टिकरण का वर्णन पाया जाता है। पुनः पौराणिक व्यवस्था का अनियम-प्रसङ्गदोष होगा, इस हेतु इन तीनों देवों में एक-एक गुण की प्रधानता स्वीकार करनी होगी, अतः विष्णु का सर्वदा श्वेत और महादेव का कृष्णवर्ण होना उचित था, परन्तु यहाँ दोनों देवों में विपरीत पाते हैं, इसका कारण क्या है?

इसका समाधान आधुनिक पुराण से कदापि नहीं हो सकता। इसका समाधान वेदार्थ के बोध से साक्षात् हो जाता है। इसका समाधान वही है जो मैंने पूर्व में वर्णन किया है, अर्थात् वेद में सूर्य को कृष्ण कहा है, क्योंकि अपने परित:स्थित ग्रहों का सूर्य अपनी ओर आकर्षण (खींच) कर रहा है, इस हेतु सूर्यस्थानीय विष्णुदेव और विष्णु के अवतार कृष्णवर्ण माने गये हैं। इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। इससे भी सिद्ध हुआ कि विष्णुदेव सूर्य के प्रतिनिधि हैं।

विष्णु और लक्ष्मी=श्री

विष्णु की शक्ति लक्ष्मी वा श्रीदेवी मानी जाती है। शोभा और सम्पत्ति का नाम लक्ष्मी वा श्री है। संस्कृत में यह प्रसिद्ध है। नि:सन्देह बड़ी बुद्धिमत्ता से विष्णु भगवान् को श्रीदेवी दी गई हैं। इस पृथिवी पर शोभा अथवा सम्पत्ति कहाँ से आती है। यदि विचारकर देखें तो ज्ञात हो जाएगा कि सूर्य ही इस जगत् को शोभा पहुँचाता है और यथार्थ में सूर्य के कारण से ही जगत् में शोभा है। हम इसका वर्णन क्या करेंगे? प्रकृति देवी स्वयं इस भाव को विस्तार रूप से प्रकाशित कर रही है। हे विचक्षणजनो! आप लोग इसको विचारें। आहा! जब सन्ध्या होने लगती है उस समय समस्त प्राणियों में क्या ही महान् परिर्वतन धीरे-धीरे होते जाते हैं।

जो विहगगण आकाश को भूषित करते थे, जो एक घण्टे में कम-से-कम एक कोश अवश्य उड़ सकते हैं, परन्तु अब वे बिल्कुल अन्धे हो गये। इनके लिए एकपद भी चलना कठिन हो गया। वे परम विवश हो गये। व्याधों के आखेट बन गये। अब अपनी मधुर ध्वनि से प्रकृतिदेवी का यश नहीं गाते। भयभीत होकर बड़े सङ्कट से रात काटते हैं। जो छोटे-छोटे पतङ्ग और गृहमक्षिकाएँ बड़े वेग से उड़ती थीं और आकाश में नाना क्रीड़ा-कौतुक करती थीं, वे अब किसी शाखा में वा गृहरज्जु में वा किसी स्थान में लटककर रात बिताती हैं। उनकी तीक्ष्ण गति अब उनको कुछ भी लाभ नहीं पहुँचाती। हम मनुष्य भी प्रकृतिदेवी की परम शोभा के देखने से वञ्चित हो जाते हैं। दिशाओं से भय उपस्थित होने लगता है। चोर न आवे। व्याघ्रादि हिंस्रजन्तु मेरे बच्चे को न ले-जाएँ। हिम-वृष्टि होकर मेरी कृषि को नष्ट न कर दे। हिम से रात में कोई आपत्ति न आ जाए। आज कितना जाड़ा लगेगा। मेरे प्रिय सन्तान सूर्य के बिना जाड़े से मर न जाएँ। आज रात्रि में क्या आपत्ति आनेवाली

है, विदित नहीं। ईश्वर! रक्षा करो। सूर्य को शीघ्र लाओ। इस प्रकार आप देखते हैं कि रात्रि में कैसी दुर्घटना प्राणियों के ऊपर आती है।

मनुष्यजाति बुद्धिमान् है। नाना उपायों से अपनी रक्षा कर लेती है, परन्तु अन्य प्राणी नहीं कर सकते उनके लिए रात्रि एक प्रलय है। जिनकी आँखें बहुत सूक्ष्म हैं वे तो बहुत दुःख पाते हैं। पक्षियों में काक पक्षी बहुत चतुर और बुद्धिमान् माना गया है। चतुर होने पर भी रात्रि में उसे बड़ा दुःख भोगना पड़ता है। संस्कृत में एक अतिशय रोचक कथा ''काकोलूकीय'' नाम से प्रसिद्ध है। रात्रि में काक असमर्थ हो जाता है। उलूक पक्षी इसपर आक्रमण कर ध्वंस कर देता है। वह भी दिन में इसका बदला लेता है। भाव यह है कि शक्तिसम्पन्न पक्षीगण भी रात में सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं। उलूक के समान प्राणी जगत् में बहुत विरल हैं। इस हेतु रात्रि की प्रशंसा इनसे नहीं हो सकती। रात्रि की प्रशंसा भी हमारी पृथिवी पर सूर्य से ही है। चन्द्र के उदय से रात्रि की शोभा बढ़ती है, परन्तु चन्द्र के उदय का कारण कौन है ? सूर्य ही है। चन्द्र में स्वयं प्रकाश नहीं है। सूर्य के ही प्रकाश से यह प्रकाशित होता है। यह बात ज्योतिश्शास्त्र में प्रसिद्ध है। 'वेदविद्या-निर्णय' में इसका वर्णन करेंगे। चन्द्र से जो रात्रि की शोभा है वह यथार्थ में सूर्य से ही है, अतः सूर्य ही शोभा का कारण है।

अब यह विचार कीजिए कि शोभा मुख्यतया रूप पर ही निर्भर है। हम लोग मेघ की श्यामशोभा का वर्णन रूप से ही करते हैं। मयूर की शोभा उसके रूप से ही है, परन्तु रूप का ग्रहण किससे होता है। निःसन्देह नयन से होता है, परन्तु वह नयन कैसे होता है ? निःसन्देह सूर्य के कारण से ही होता है। नयन के लिए ही सूर्य की सृष्टि है। ''**चक्षोः सूर्योऽजायत**'' चक्षु के लिए सूर्य उत्पन्न हुआ है, अतः सिद्ध हुआ कि जिस नयन से शोभा का बोध करते हैं, उसका भी मुख्य कारण सूर्य भगवान् ही है। यथार्थ में पूछिए तो जगत् में जितने शुक्ल, पीत, नील आदि रूप हैं, इन सबका कारण सूर्य ही है। इस हेतु सूर्य को वेद ''विश्वरूप'' कहता है, अर्थात् सब रूपों की उत्पत्ति सूर्यदेव से है ''**विश्वानि सर्वाणि रूपाणि यस्मिन् अथवा विश्वं सर्वं रूपयतीति विश्वरूपः**'' जिसमें सब रूप हों अथवा जो सबको रूपित करे, उसे विश्वरूप कहते हैं। उपनिषद् में कहा गया है—

असौ वा आदित्यः पिंगल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः। —*छा० उ० ८/६/१*

निश्चय यह सूर्य ही पिङ्गल है। यही शुक्ल है। यही नील है। यही पीत है। यही लोहित है। यद्यपि यह संसार पारस्परिक है, अर्थात् सूर्य बिना वायु नहीं। वायु बिना सूर्य नहीं। यदि वायु न हो तो सूर्य क्या कर सकता। यदि पृथिवी ही न हो तो प्राणी रह ही कहाँ सकते। यदि जल ही न हो तो अन्न ही नहीं हो सकते। फिर प्राणी कैसे जीते? इस प्रकार देखते हैं तो सब मिलकर कार्य कर रहे हैं तथापि एक-एक पदार्थ की एक-एक मुख्यता देखते हैं। सूर्य की मुख्यता रूप-प्रदान में है।

सूर्य और सम्पत्ति

यद्यपि सूर्य के वर्णन में इसके प्रत्येक गुण का वर्णन विस्तार से करेंगे, परन्तु प्रसङ्ग से यहाँ पर भी कुछ वर्णन करना आवश्यक है। सूर्य केवल रूप का ही प्रदाता नहीं है, किन्तु सम्पत्ति (धन) का भी प्रदाता है। प्रथम तो सूर्य अनेक रोगों का सर्वदा नाश किया करता है, जिससे जगत् में बहुत न्यून व्याधि उत्पन्न होती हैं। इससे क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या विविध प्रकार की ओषधियाँ—सभी सुरक्षित रहते हैं। यह महासम्पत्ति का कारण होता है। दूसरा यह भी देखते हैं कि जहाँ सूर्य की धूप गेहूँ, जौ, धान आदि सस्यों पर ठीक-ठीक नहीं पड़ती है, वृक्षादि की छाया जहाँ अवरोधक है वहाँ सस्य नहीं होता और प्रधानतया रबी की फसल सूर्य की ही आतप से होती है। इसी हेतु इसका नाम ही 'रबी' है। देश में रबी प्रधान सम्पत्ति है। इस प्रकार जहाँ तक विचार करते जाएँगे वहाँ तक यही बोध होगा कि इसी सूर्य की शक्ति लक्ष्मी और श्रीदेवी है। अब यहाँ साक्षात् वेद का प्रमाण देते हैं, जहाँ सूर्य की शक्ति लक्ष्मी और श्री मानी गई है। यथा—

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्। इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण॥

—*यजुः० ३२/२२*

अथ महीधरभाष्यम्—ऋषिरादित्यं स्तुत्वा प्रार्थयते। हे आदित्य! श्रीः लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ जायास्थानीये त्वद्वश्ये इत्यर्थः। यया सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्रीः श्रीयतेऽनया श्रीः सम्पदित्यर्थः। यया लक्ष्यते दृश्यते जनैः सा लक्ष्मीः सौन्दर्यमित्यर्थः।

अहोरात्रे तव पार्श्वे पार्श्वस्थानीये नक्षत्राणि गगनगास्तारा: तव रूपम्। तवैव तेजसा भासमानत्वात् 'तेजसां गोलकः सूर्यो नक्षत्राण्यंबुगोलका' इति ज्योतिःशास्त्रोक्तेः। अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ तव व्यात्तम् विकासितमुखस्थानीये अश्नुवाते व्याप्नुतस्तौ 'अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ इमे हीदꣳसर्वमश्नुवाताम्' इति श्रुतेः। य ईदृशस्तं त्वां याचे इष्णन् कर्मफलमिच्छन् सन्। इषाण इच्छ 'इषु इच्छायाम्'। विकरणव्यत्ययः। यद्वा 'इष आभीक्ष्ण्ये' क्र्यादिः अत्रेच्छार्थः। किमेषणीयं तत्राह। अमुं परलोकं मे मम इषाण मम परलोकः समीचीनोऽ स्त्वितीच्छा अमोघेच्छत्वादिष्टं भवतीत्यर्थः सर्वं मे मम इषाण सर्वलोकात्मकोऽहं भवेयमितीच्छेत्यर्थः मुक्तोभवेयमित्यर्थः। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति सामश्रुतेः॥ २२॥

इस मन्त्र का अर्थ महीधरभाष्य के अनुसार करते हैं (इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मैं महीधरभाष्य को सत्य समझता हूँ, किन्तु यहाँ यह दिखलाना है कि जिस समय सूर्य एक प्रधान देवता माना गया था, उस समय सूर्य को लोग क्या-क्या समझते थे और सूर्यस्थानीय जब एक विष्णुदेव बनाया गया तब किस प्रकार सूर्य के समस्त गुण इसमें आरोपित हुए) ऋषि सूर्य की स्तुति करके प्रार्थना करते हैं, हे आदित्य! (श्रीः) श्री (च) और (लक्ष्मीः) लक्ष्मी ये दोनों (ते) तुम्हारी (पत्न्यौ)—पत्नी—जायास्थानीया हैं, अर्थात् आपके वश्य हैं। आगे श्री और लक्ष्मी शब्द की व्युत्पत्ति करके अर्थ करते हैं कि श्रीनाम सम्पत्ति का है और लक्ष्मी नाम सौन्दर्य का है। (अहोरात्रे) दिन-रात (पार्श्वे) पार्श्व स्थानीय हैं। (नक्षत्राणि) गगनस्थित ताराएँ (रूपम्) आपके रूप हैं, क्योंकि हे आदित्य! आपके ही तेज से ये नक्षत्र भासित होते हैं। ज्योतिषश्शास्त्र में कहा गया है—तेज का गोलक सूर्य है और जलगोलकवत् ये नक्षत्र हैं। (अश्विनौ) द्युलोक और पृथिवी (व्यात्तम्) मुख स्थानीय हैं। आगे सप्रमाण सिद्ध किया है कि द्युलोक और पृथिवी का नाम अश्वी है। जो आप ऐसे हैं, उनसे मैं याचना करता हूँ। (इष्णन्) कर्मफल की इच्छा करते हुए आप (मे) मेरे (अमुम्) परलोक की (इषाण) इच्छा करें। मुझे अच्छा परलोक होवे। (मे) मेरे (सर्वलोकम्) सब लोक की आप (इषाण) इच्छा करें, अर्थात् मैं सर्वलोकात्मक होऊँ, अर्थात् मुक्त होऊँ।

इस मन्त्र में साक्षात् सूर्य की पत्नी लक्ष्मी और श्री मानी गई हैं। इसी हेतु सूर्यस्थानीय विष्णु भगवान् की भी पत्नी लक्ष्मी और

श्री ही बनाई गई। हे विद्वानो! इसपर आप लोग पूर्णतया ध्यान देवें। किस विद्वत्ता के साथ सङ्गति लगाई गई है। ऐसे स्थल में वैदिक भाषा में पत्नी नाम शक्तिमात्र का है। पालयित्री शक्ति का नाम पत्नी है। सूर्यादि-पदार्थों की मनुष्यवत् कोई स्त्री नहीं है, परन्तु इनमें एक महती शक्ति है, जिससे वे जगत् का पालन और पोषण कर रहे हैं। उसी शक्ति का नाम पत्नी है। लक्ष्मी की उत्पत्ति समुद्र से मानी गई है, मैंने अनेक स्थानों में आप लोगों से कहा है कि 'समुद्र' शब्द आकाशवाची है। आकाश से लक्ष्मी वा श्री की उत्पत्ति है, यह बहुत ठीक है, क्योंकि समुद्र, जो आकाश, उसमें रहनेवाला जो सूर्य वह भी 'समुद्र' कहलाता है। संस्कृत का ऐसा नियम है। जैसे मंच और मंचस्थ पुरुष दोनों मंच शब्द से व्यवहृत होते हैं। इस हेतु समुद्र जो सूर्य उससे लक्ष्मी की उत्पत्ति है, यह भाव है, परन्तु समय के परिवर्तन से इस भाव को लोग भूल गये और समुद्र शब्द भी एक ही अर्थ में प्रयुक्त होने लगा, इस कारण यह अज्ञानता जगत् में फैल गई कि जलराशि के मन्थन से लक्ष्मी देवी का जन्म हुआ। प्रथम तो लक्ष्मी देवी ही सूर्य से भिन्न कोई वस्तु नहीं, पुनः इसका जन्मादि कैसे सत्य हो सकता है? हाँ, लक्ष्मी नाम शोभा, सौन्दर्य, सम्पत्ति ऐश्वर्य आदि का है। इसका कारण सूर्यदेव है, इसमें संशय नहीं इस हेतु लक्ष्मी को सूर्यशक्ति वा सूर्य की पत्नी कहते हैं। पश्चात् जब सूर्य को विष्णुरूप से एक देहधारी मनुष्य के समान बनाया तब आवश्यकता हुई कि इनकी मनुष्यवत् कोई पत्नी होनी चाहिए, अतः जो पत्नी वैदिकी थी उसी को यहाँ भी ले-आये। हे विद्वानो! इस विषय को आप लोग विचारें।

विष्णु और कमल

यह पुराणों में विदित है बिल्वपत्र (बेलपत्र नामक वृक्ष के पत्ते) से जैसे श्रीमहादेवजी वैसे ही कमल के फूल से श्रीविष्णुजी अति प्रसन्न होते हैं। क्यों? क्या कमल अति सुन्दर होता है इस हेतु? नहीं। इससे भी परम मनोहर अन्यान्य कुसुम जगत् में विद्यमान हैं। क्या कमल जल में रहने से जलशायी विष्णु का प्रीतिभाजन हुआ? नहीं। कुमुदिनी आदि अनेक सुमन जल में निवास करते हैं। कमल से प्रसन्न होने का मुख्य कारण भी सूर्यदेव ही हैं, अलङ्कार रूप से कवियों ने वर्णन किया है कि कमलिनीरूप स्त्री का नायक, मानो सूर्य है, क्योंकि सूर्योदय होने से कमलिनी प्रस्फुटित होती

है और अस्त होने पर संकुचित हो जाती है। कविलोग कमल शब्द को ही कमलिनी बना लेते हैं और इसको स्त्रीवत् मानते हैं, इसी हेतु सूर्यस्थानीय विष्णुदेव भी कमलिनी के नायक बनाये गये। इस कारण कमल के फूल से विष्णु की प्रसन्नता का विवरण पुराणों में पाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं स्वभावतः कमल मनोहर होता है। इसी हेतु काव्य में कमल के साथ बहुत उपमा दी गई हैं। पौराणिक अपने भगवान् को भी पुण्डरीकाक्ष, कमलनयन आदि विशेषण देकर पुकारते हैं। पुण्डरीक नाम भी कमल का ही है। पुण्डरीक (कमल) के समान (अक्षि) नेत्रवाले को पुण्डरीकाक्ष कहते हैं। इस शब्द का माहात्म्य पुराणों में बहुत कुछ गाया गया है। यथा—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

यथार्थ में इस शब्द का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए। "**पुण्डरीकं हृदयकमलं अक्ष्णोति व्याप्नोतीति स पुण्डरीकाक्षः, अशू व्याप्तौ**" पुण्डरीक=हृदय कमल में जो व्याप्त हो, वह पुण्डरीकाक्ष, क्योंकि हृदयरूप कमल में ब्रह्म के ध्यान का विधान उपनिषदादि ग्रन्थों में आया है। यथार्थ में भारतवर्षीय सर्वसम्प्रदाय में कमल की प्रशंसा आई है। बौद्धधर्म में इसकी बड़ी विशेषता गाई गई है। कमल के फूल में शतदल तो होते ही हैं, परन्तु एक-एक फूल में कहीं-कहीं सहस्त्र दल भी देखे गये हैं, इसी हेतु कमल का नाम ही "सहस्त्रपत्र" है। "**सहस्त्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम्**", सूर्य को भी 'सहस्त्रांशु'— सहस्त्र किरणवाला कहते हैं। इसी हेतु मानो प्रकृति देवी ने इन सहस्त्रपत्र और सहस्त्रांशु में सम्बन्ध जोड़ा है। विष्णु-रचयिता महाकवि ने भी इस प्राकृत सम्बन्ध को रूपान्तर में भी स्थिर रक्खा। एवमस्तु। प्रत्येक विषय हम को सूचित करता है कि विष्णु सूर्य-स्थानीय देव हैं।

विष्णु और समुद्र-मथन

समुद्र-मथन की कथा अति प्रसिद्ध है। महाभारत, रामायण और श्रीमद्भागवत आदि सकल पुराणों में इसकी चर्चा आई है। इस कथा में विष्णु की ही प्रधानता है। यदि विष्णु मोहिनीरूप धारण नहीं करता तो देवों का प्रयत्न विफल हो जाता। इस हेतु इसका भाव वर्णन करना आवश्यक है।

उच्चैः श्रवा हयश्रेष्ठो मणिरत्नं च कौस्तुभम्।
उदतिष्ठन्नरश्रेष्ठ तथैवाऽमृतमुत्तमम्॥ ३९॥
अथ तस्य कृते राम महानासीत् कुलक्षयः।
अदितेस्तु ततः पुत्रा दितिपुत्रानयोधयन्॥ ४०॥
एकतामगमन् सर्वे असुरा राक्षसैः सह।
युद्धमासीन्महाघोरं वीर त्रैलोक्यमोहनम्॥ ४१॥
यदा क्षयं गतं सर्वं तदा विष्णुर्महाबलः।
अमृतं सोऽहरत्तूर्णं मायामास्थाय मोहिनीम्॥ ४२॥
ये गताभिमुखं विष्णुमक्षरं पुरुषोत्तमम्।
सम्पिष्टास्ते तदा युद्धे विष्णुना प्रभविष्णुना॥ ४३॥ इत्यादि।

वाल्मीकि रा० बालका० सर्ग० ४५

ततो नारायणो मायां मोहिनीं समुपाश्रितः।
स्त्रीरूपमद्भुतं कृत्वा दानवानभिसंश्रितः॥ ४६॥
ततस्तदमृतं तस्यै ददुस्ते मूढचेतसः।
स्त्रियै दानवदैतेयाः सर्वे तद्गतमानसाः॥ ४७॥

—महा० १।१८

इस सबका भाव—तब नारायणदेव मोहिनीमाया के आश्रित हो, एक अद्भुत स्त्री का रूप बना दानवों के निकट आ पहुँचे। तब उन दानवगणों ने स्त्री के रूप से मोहित हो उस स्त्री को अमृत दे दिया, इत्यादि कथा महाभारत आदिपर्व में देखिए। उस समुद्र से अश्वश्रेष्ठ उच्चैःश्रवा नाम का अश्व और मणिरत्न कौस्तुभ उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् उत्तम अमृत उत्पन्न हुआ। हे राम! जिसके लिए महान् कुलक्षय हुआ। अदिति के पुत्र, अर्थात् देवगण दिति के पुत्र दैत्यों से युद्ध करने लगे। असुर और राक्षस सब मिल एकता कर देवों से घोर संग्राम करने लगे। जब सबका क्षय हुआ तब विष्णु ने शीघ्र मोहिनीमाया को धारण कर अमृत-हरण कर लिया। विष्णु के अभिमुख जो-जो दैत्य, दानव, राक्षस आये, उन सबको विष्णु ने चूर्ण-चूर्ण कर दिया, इत्यादि अमृत-मथन की कथा वाल्मीकि रामायण में देखिए।

श्रीमद्भागवत अष्टमस्कन्ध के षष्ठाध्याय से इस कथा का आरम्भ होता है। संक्षेप में कथा यूँ है—जब देवगण असुरों से परास्त हुए और असुरों की परम वृद्धि होने लगी तब वे सब देव ब्रह्मा को

साथ लेकर विष्णु के निकट गये। विष्णु ने उन सबसे यह कहा कि आप लोग असुरों से मेल करके अमृत-मथन के लिए यत्न कीजिए। अन्त में असुर केवल क्लेशभागी ही होंगे और आप लोग फल प्राप्त करेंगे। विष भी उत्पन्न होगा, उससे आप लोग मत डरना। मन्दराचल को मन्थन दण्ड और वासुकि सर्प को मन्थन रज्जु बना समुद्र का शीघ्र मन्थन कीजिए। इसी में आप लोगों का कल्याण है। देव और असुर दोनों ने मिलकर वैसा ही किया। प्रथम हलाहल विष उत्पन्न हुआ, जिसे महादेव ने ग्रहण किया। तब हविर्धानी उत्पन्न हुई, जिसको ऋषियों ने लिया। तब श्वेतवर्ण उच्चैःश्रवा अश्व (घोड़ा) और चतुर्दन्त ऐरावत हाथी उत्पन्न हुए। जो इन्द्र की सेवा में रहे। तब कौस्तुभमणि जिसको विष्णु ने ग्रहण किया। तब पारिजात जो स्वर्ग का भूषण है। पश्चात् अप्सराएँ उत्पन्न हुईं। तत्पश्चात् साक्षात् लक्ष्मी का आविर्भाव हुआ जो विष्णु की प्रिया हुई। तब वारुणी उत्पन्न हुई जिसको असुरों ने ग्रहण किया। इन सबके पश्चात् जिस अमृत के लिए इतना उद्योग और परिश्रम किया गया, उसे कलश में लेकर वैद्य धन्वन्तरि आविर्भूत हुए। अमृत निकलते ही विष्णु तो अन्तर्हित हो गये और देव-दानवों में तुमुल संग्राम होने लगा। देवों को मार-पीट, दूरकर असुरगण अमृत ले भाग चले। विष्णु यह लीला देख मोहिनी स्त्रीरूप बन असुरों के मार्ग में जा खड़े हुए। असुरगणों ने उस मोहिनी रूप से मोहित हो अमृतभाजन (पात्र) उस स्त्री को दे दिया। पश्चात् असुरों से छल कर विष्णु ने देवों को अमृत पान करवाया। यह पौराणिक कथा अति प्रसिद्ध है। महाभारत, रामायण और पुराण आदि की कथा में बहुत भेद है। यथा—

ततः शतसहस्त्रांशुर्मथ्यमानात्तु सागरात्।
प्रसन्नात्मा समुत्पन्नः सोमः शीतांशुरुज्ज्वलः॥ ३४॥
श्रीरनन्तरमुत्पन्ना घृतात्पाण्डरवासिनी।
सुरादेवी समुत्पन्ना तुरगः पाण्डरस्तथा॥ ३५॥
कौस्तुभस्तु मणिर्दिव्य उत्पन्नो घृतसंभवः।
मरीचिविकचः श्रीमान् नारायण उरोगतः॥ ३६॥
पारिजातस्तु तत्रैव सुरभिस्तु महामुने।
अजायत तदा ब्रह्मन् सर्वकामफलप्रदा॥
श्रीः सुरा चैव सोमश्च तुरगश्च मनोजवः।
यतो देवास्ततो जग्मुरादित्यपथमाश्रिताः॥ ३७॥

धन्वन्तरिस्ततो देवो वपुष्मानुदतिष्ठत।
श्वेतं कमण्डलुं बिभ्रदमृतं यत्र तिष्ठति॥ ३८॥
एतदत्यद्भुतं दृष्ट्वा दानवानां समुत्थितः।
अमृतार्थे महान्नादो ममेदमिति जल्पताम्॥ ३९॥
श्वैतैर्दन्तैश्चतुर्भिस्तु महाकायस्ततः परम्।
ऐरावतो महानागोऽभवद्वज्रभृता धृतः॥ ४०॥
अतिनिर्मथनादेव कालकूटस्तः परः।
जगदावृत्य सहसा सधूमोऽग्निरिव ज्वलन्॥ ४१॥
त्रैलोक्यं मोहितं यस्य गन्धमाघ्राय तद्विषम्।
प्राग्रसल्लोकरक्षार्थं ब्रह्मणो वचनाच्छिवः॥ ४२॥
दधार भगवान् कण्ठे मन्त्रमूर्त्तिर्महेश्वरः। इत्यादि।

महाभारत आदिपर्व, अध्याय १८

अर्थ—मथ्यमान समुद्र से प्रथम शतसहस्रांशु प्रसन्नात्मा उज्ज्वल और शीतांशु सोम उत्पन्न हुआ। पश्चात् उस जल से श्वेत वस्त्र भूषिता लक्ष्मी उत्पन्न हुई। तब सुरा देवी, श्वेत घोड़ा, और कौस्तुभमणि, उत्पन्न हुए। कौस्तुभ मणि नारायण के उरस्थित हुआ। हे महामुने! पारिजात और सुरभि गौ समस्त फल देनेवाली उसी से उत्पन्न हुई। श्री, सुरा, सोम और वेगवान् तुरग ये सब देव के निकट गये और आदित्य के पथ में विराजमान हुए। तब शरीरधारी धन्वन्तरि देव हाथ में श्वेत कमण्डलु लिये हुए उत्पन्न हुए। इस कमण्डलु में अमृत था। इस अत्यद्भुत लीला को देख दानवों में अमृत के लिए महान् नाद उपस्थित हुआ। तब चार दन्तवाला ऐरावत नाम का हाथी उत्पन्न हुआ तत्पश्चात् अति निर्मथन से कालकूट विष उत्पन्न हुआ, जिसको ब्रह्मा के वचन से महादेव ने अपने कण्ठ में धारण कर लिया। आगे यह कथा है कि अमृत और लक्ष्मी के लिए देव और दानवों में बड़ी शत्रुता हुई। तब विष्णु ने मोहिनी माया से दानवों को छल देवों को अमृत पिला कृतार्थ किया।

उत्पपाताग्निसंकाशं हालाहलमहाविषम्।
तेन दग्धं जगत् सर्वं सदेवासुरमानुषम्॥ २०॥
अथ वर्षसहस्रेण आयुर्वेदमयःपुमान्॥ ३१॥
उदतिष्ठत्सुधर्मात्मा सदण्डः सकमण्डलुः।
पूर्वं धन्वन्तरिर्नाम अप्सराश्च सुवर्चसः॥ ३२॥

वरुणस्य ततः कन्या वारुणी रघुनन्दन।
उत्पपात महाभागा मार्गमाणा परिग्रहम्॥ ३६॥
दितेःपुत्रा न तां राम जगृहुर्वरुणात्मजाम्।
अदितेस्तु सुता वीर जगृहुस्तामनिन्दिताम्॥ ३७॥
असुरास्तेन दैतेयाः सुरास्तेनादितेः सुताः।
हृष्टाः प्रमुदिताश्चासन् वारुणीग्रहणात्सुराः॥ ३८॥

—रामायण० बाल० ४५

वाल्मीकि रामायण में कथा इस प्रकार है—समुद्र के मथन से प्रथम अग्नि के समान हलाहल विष उत्पन्न हुआ, जिससे सम्पूर्ण जगत् दग्ध होने लगा। तब सब देव महादेव के निकट जा इस आपत्ति से रक्षा के लिए प्रार्थना करने लगे। इसी समय शङ्खचक्रधर हरि भी आ गये। इन्होंने महादेव से कहा कि यह विष अग्रपूजा के समान उपस्थित हुआ है। आप इसे लेवें। महादेवजी ने वैसा ही किया। तब बहुत वर्षों के पश्चात् आयुर्वेदमय धर्मात्मा पुरुष धन्वन्तरि दण्ड और कमण्डलु के साथ जल से ऊपर हुए और अप्सराएँ भी ऊपर हुईं। आगे अप्सरा शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं। जल में मथन से, जल के रस से ये उपस्थित हुईं इस हेतु ये 'अप्सरस्' कहाती हैं। तब वरुण की कन्या वारुणी (सुरा, मद्य) उपस्थित हुई और 'मुझको कौन ग्रहण करता है', यह प्रत्याशा करने लगी। हे राम! दिति के पुत्र दानवगणों ने वारुणी का ग्रहण नहीं किया, परन्तु हे वीर! अदिति के पुत्र देवगणों ने अनिन्दित वारुणी का ग्रहण किया। इसी हेतु दिति पुत्र दानवगण 'असुर' सुरारहित कहलाते हैं और वारुणी सुरा के ग्रहण से देवगण 'सुर' कहलाते हैं। वारुणी के ग्रहण से देवगण अति हृष्ट और मुदित हुए। इसके अनन्तर यह कथा है—'**उच्चैः श्रवा हयश्रेष्ठो मणिरत्नञ्च कौस्तुभम्**' घोड़ों में श्रेष्ठ उच्चैःश्रवा, मणिरत्न कौस्तुभ और उत्तम अमृत उत्पन्न हुए। हे राम! अमृत के लिए देव-दानवों में तुमुल संग्राम हुआ। मोहिनी माया को धारण कर तब विष्णु ने दानवों से अमृत ले-लिया। विष्णु ने सब असुरों का नाश कर देवों को अमृत पिलाया। इन्द्र इस प्रकार राज्य पाकर परम मुदित हुए।

भागवत का संक्षिप्त कथासार हम ऊपर दे चुके हैं। इन तीनों ग्रन्थों से इस कथा के देने में हमारा अभिप्राय यह है कि आप लोग इसपर विचार करें कि अमृत-मथन का जो प्राचीन भाव था वह

भाव इन ग्रन्थकारों के समय में विस्मृत हो गया था। इसी हेतु कथा में इतना भेद है। रामायण में लक्ष्मी की उत्पत्ति का वर्णन नहीं है। रामायण कहता है कि वारुणी को असुरों ने ग्रहण नहीं किया, किन्तु देवों ने इसका ग्रहण किया। इसके विरुद्ध श्रीमद्भागवत कहता है कि

अथासीद्वारुणी देवी कन्या कमललोचना।
असुरा जगृहुस्तां वै हरेरनुमतेन ते॥[१]

तब कमललोचना वारुणी देवी उपस्थित हुई, जिसका ग्रहण भगवान् की अनुमति से असुरों ने किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कथा में विरोध भी है। यदि यह कथा सत्य होती तो सर्वत्र समान ही होती, परन्तु समान नहीं है। इससे अनुमान होता है कि यह मिथ्या है और जहाँ से प्रारम्भ में यह कथा चली उसका भाव भी इन ग्रन्थकारों के समय में विलुप्त हो गया था, इसी हेतु अपने-अपने अनुमान के अनुसार उन्होंने इस कथा को बनाया। वाल्मीकि रामायण और महाभारत के देखने से यह झट से प्रतीत हो जाता है कि ये सब कथाएँ इनमें पीछे से मिलाई गईं हैं। इस हेतु ये सब क्षेपक हैं। आज इस कथा की समालोचना करते हुए हमें शोक होता है कि आख्यायिका-रचयिता की अविकल सम्पूर्ण रचना हम लोगों तक नहीं पहुँच सकी। यदि पहुँचती तो इन सबका भाव आज विस्पष्ट हो जाता, पौराणिक तो इस कथा के तात्पर्य से सर्वथा विमुख ही रहे। एवमस्तु।

जितना अंश सामान्य रीति से सर्वत्र पाया जाता है, इसके भाव पर हम लोग अब ध्यान दें। समुद्र का मथन, अमृत का निकलना, अमृत लेकर असुरों का भागना, विष्णु का मोहिनीरूप होना, तब देवों की कृतकृत्यता होनी, इत्यादि कथा सबमें तुल्य ही है।

इस कथा का भाव क्या है? क्या यथार्थ में देवों ने समुद्र का दधिवत् मथन किया। क्या यथार्थ में उससे अमृत निकला, जिसका पान कर देवगण अमर हुए? हे विद्वानो! जिसको आजकल लोग समुद्र समझते हैं उसका मथन न कभी हुआ, न होगा। कौन अज्ञानी पुरुष इस पानी का अमृत की आशा से मथन करेगा और जिसको लोग अमृत मानते हैं, वह कहीं नहीं है। आज वे देव कहाँ हैं जो अमर हो गये? आप पुराणों में सुनते हैं कि वे दानव सदा पृथिवी

---

१. भागवत ८।८।३०

पर ही लड़ा करते थे, परन्तु आजकल के समय में वह एक भी नहीं दिखता। क्या कारण है? यथार्थ में इसका यह भाव ही नहीं है। फिर वह देव कहाँ से आवें। पुराण के समय में महान् अन्धकार इस जगत् में फैल गया, जिसका नाश अभी तक नहीं हुआ। सुनिए, इसका क्या भाव है। हमने आप लोगों से अनेक स्थल में कहा है कि समुद्र नाम आकाश का है। इसमें अब प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं, पीछे की बात स्मरण कीजिए। इस प्रकरण में 'असुर' नाम मेघ का है, इस बात को आप लोग अच्छे प्रकार स्मरण रखिए। इसमें निघण्टु का प्रमाण है—

अद्रिः। ग्रावा। गोत्रः। बलः। अश्नः। पुरभोजाः। बलिशानः। अश्मा। पर्वतः। गिरिः। व्रजः। चरुः। वराहः। शम्बरः। रौहिणः। रैवतः। फलिगः। उपरः। उपलः। चमसः। अहिः। अभ्रम्। बलाहकः। मेघाः। दृतिः। ओदनः। वृषन्धिः। वृत्रः। असुरः। कोशः। इति त्रिंशन्मेघनामानि। —*निघण्टु १।१०*

इसमें साक्षात् असुर शब्द का पाठ आया हुआ है। और 'देव' नाम सूर्य की किरणों का भी है, यह आप लोग अच्छे प्रकार जानते ही हैं, परन्तु यह भी आप लोग स्मरण रक्खें कि वैदिक भाषा में पदार्थमात्र को 'देव' कहते हैं। अब थोड़ी देर तक अलङ्काररूप से समझें कि सूर्य की किरण और मेघ देहधारी देवगण हैं। सूर्य की किरण, 'देव' और मेघ 'असुर' हैं। (मेघ का नाम ही असुर है) ये दोनों मिलकर समुद्र, अर्थात् आकाश का मथन करते हैं, अर्थात् जैसे दूध जमकर जब दही हो जाता है, तब उसका मथन करते हैं अथवा साक्षात् दूध का ही मथन कर घृत निकालते हैं। वैसे ही सूर्य-किरण द्वारा पृथिवी पर से जब थोड़ा-थोड़ा पानी आकाश में एकत्र होने लगता है और मेघ रूप में आकर आकाश में इधर-उधर दौड़ने लगता है, उस समय मानो सूर्य-किरण और असुरगण (मेघ देवता) समुद्र (आकाश) का मथन कर रहे हैं। इस प्रकार मथन करते हुए 'अमृत' निकलता है। हे विद्वानो! अमृत नाम 'जल' का ही है। वेदों में इसके अनेक उदाहरण आये हैं, पीछे वर्णन भी किया गया है। अमरकोश भी कहता है—"**पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्**"—'पय, कीलाल, अमृत, जीवन, भुवन, वन आदि जल के नाम हैं। अब आप ध्यान दीजिए'। पृथिवी पर से वा पृथिवीस्थ जलाशयों से वा पृथिवीस्थ समुद्रों से पानी ऊपर उठता है तो वह प्रथम वाष्प के रूप में आता है, पुनः मेघाकार होता है।

तब द्रवीभूत होकर बरसता है। यदि संयोग न हो तो वही उत्थित पानी कहीं शीत होकर पत्तों पर जम जाता है। कहीं कुहक (कुहेरा) के रूप में होकर धुँधला-सा हो लुप्त हो जाता है। कहीं तीक्ष्ण ताप से छिन्न-भिन्न होकर वाष्परूप में ही रह जाता है। कहीं ओले बनकर पत्थर के रूप में पृथिवी पर गिरता है, इत्यादि पानी की दशा होती रहती है। जब आकाश-मथन द्वारा पानी अमृतरूप में आता है, अर्थात् ठीक बरसनेवाले मेघरूप में आता है, उस समय एक विचित्र शोभा दीख पड़ती है। मेघ भागता है। पूर्व या पश्चिम या उत्तरादि दिशा की ओर मेघ दौड़ता हुआ दीखता है। यही असुरों का अमृत लेकर भागना है। अभी मैंने कहा है कि असुर नाम मेघ का है। यहाँ असुरपद से मेघ का देवता समझें। मेघ का देवता जो असुर है वह अमृत जो मेघ घटा है, उसको लेकर मानो भाग रहा है। अब देव—सूर्य-किरण देखती हैं कि हमारा परिश्रम बिल्कुल व्यर्थ गया, क्योंकि जिसका हमने मथन किया था उसे असुर (मेघ देवता) लेकर भाग रहा है। सूर्य-किरण (सूर्य) देव से कहते हैं कि आप इसका कोई उपाय सोचें। उस समय विष्णुदेव एक सुन्दर मोहिनी रूप धारण करते हैं, अर्थात् विष्णु (सूर्य) विद्युद्रूप स्त्री का रूप धारण करते हैं, अर्थात् विद्युत् (बिजुली) रूप होकर असुरगण (मेघगण) में प्रविष्ट हो मेघ को छिन्न-भिन्न करके पानी बरसाने लगते हैं। यही विष्णु (सूर्य) का मोहिनीरूप धारण करना है और इस प्रकार असुरों को छलना है। वर्षा का होना ही देवों के लिए अमृत-प्राप्ति है। वर्षा होना ही अमृत है। इसको देव, अर्थात् सकल पदार्थ पाकर परम प्रसन्न होते हैं। मेघ में विद्युत् आदि की उत्पत्ति का कारण यथार्थ में सूर्य ही है। सूर्य की गरमी से ही वायु चलता है। वायु के आधार पर मेघ भ्रमण करता है। उस मेघ के संघर्षण से विद्युत् उत्पन्न होती है। यथार्थ में मेघ का कारण ही सूर्यदेव है। इसका इस प्रकार भी विचार कर सकते हैं—सूर्य की ऊष्मता के कारण जो मेघ की घटा में एक परम सुन्दर शोभा उत्पन्न होती है मानो वही सूर्य (विष्णु) का मोहिनी रूप धारण करना है, उसमें असुर (मेघ) मोहित होकर (द्रवीभूत होकर) अमृत, अर्थात् जल को छोड़ देता है, अर्थात् सूर्य की उष्णता से वर्षा होने लगती है। देव, अर्थात् सब पदार्थ इसे पीकर अमर होते हैं। अन्यथा जल के बिना सभी मर जाएँ। यहाँ देव शब्द का अर्थ सूर्य-किरण और पृथिवीस्थ पदार्थ है। अमृत जल को इस हेतु कहते हैं कि वह कभी मरता नहीं।

हम लोग देखते हैं कि वृक्ष जब आग में भस्म कर दिया जाता है, तब वह वृक्ष रूप में पुनः कदापि नहीं आ सकता। ऐसी ही सब पदार्थों की गति है, परन्तु जल भस्म कर देने पर भी ठीक अपने स्वरूप में आ जाता है। आग पर चढ़ाने से जल केवल वाष्प हो जाता है। यन्त्र के द्वारा वह वाष्प ठीक उसी जल के रूप में दिखलाया जा सकता है। हम लोग देखते हैं कि ढकने के पेंदी में पानी जमा रहता है, वह पानी वाष्प का ही है। प्रथम पृथिवी पर से पानी ऊपर जाकर वाष्प हो जाता है और वाष्प से पुनः मेघ होता है। तब पुनः उसी पानी के रूप में होकर बरसता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जल कदापि मरता नहीं। इसी हेतु वैदिक भाषा में इसका नाम "अमृत" है। इस अमृत का मथन प्रतियुग, प्रतिवर्ष, प्रतिदिन होता रहता है। सूर्य प्रतिदिन अपनी किरणों से पृथिवी पर का पानी ऊपर खींचता है। इसी की गरमी से पृथिवीस्थ समुद्र से भी पानी वाष्परूप में ऊपर उठता है। यही समयान्तर में मेघ बनता रहता है। सरोवर आदि का पानी वैशाख-ज्येष्ठ में सूख जाता है। इसका कारण क्या है? कुछ पानी तो पृथिवी के भीतर चला जाता है और उसका अधिक भाग सूर्य-किरणों से वाष्परूप हो जाता है। वर्षाऋतु में सागर के पानी में बहुत वाष्प होता रहता है। इसी हेतु वर्षा भी अधिक होती है। यह घटना केवल वर्षाऋतु में ही नहीं, किन्तु प्रत्येक ऋतु में होती है। इसी हेतु कुछ वर्षा सब ऋतुओं में होती है। जहाँ वर्षा नहीं होती है, वहाँ कई एक कारण हैं। ऊष्मता के कारण मेघ वहाँ आते-आते वाष्प हो जाता है। प्राकृत विज्ञान में इन सबका बृहत् वर्णन किया गया है, यहाँ इसकी आवश्यकता नहीं है। हे विद्वानो! अमृत-मथन तो प्रतिदिन, प्रतिऋतु में हुआ करता है, अज्ञानी लोग समझते हैं कि अमृत-मथन हो चुका, देव अमर हो गये। असुर परास्त हुए, परन्तु ज्ञानी लोगों की दृष्टि में समुद्र-मथन सर्वदा होता रहता है।

हलाहल विष आदि

आप लोग देखते हैं कि जब वर्षा का आरम्भ होता है तब उसके पहले बड़ी गरमी उत्पन्न होती है। वायु बन्द हो जाता है लोग परिश्रान्त हो जाते हैं। पसीने से लोग तरबतर हो जाते हैं। वर्षाऋतु की गरमी कभी-कभी बड़ी दुःखदायी होती है। जो लोग ऐसे देश में निवास करते हैं जहाँ पर सब ऋतुएँ होती हैं, उन्हें यह

सब घटना अच्छे प्रकार अनुभूत है। इसी गरमी का होना मानो जगत् में हलाहल कालकूट विष का फैलना है। वर्षा के आरम्भ में बीमारी भी बहुत फैलती है। हैज़े की बीमारी इसी ऋतु में होती है, वातव्याधि इसी ऋतु में फैलकर लोगों में विविध रोगों को उत्पन्न करती है। इन्हीं रोगों का फैलना मानो समुद्र (आकाश) से कालकूट विष का उत्पन्न होना है। इस विष को रुद्र (महादेव) खा लेते हैं। इसका भाव यह है कि रुद्र नाम "विद्युत्" का है। इसका वर्णन आगे करेंगे। विद्युत् से तात्पर्य यहाँ पूर्ण वर्षा का है, क्योंकि विद्युत् वर्षा का सूचक है, अर्थात् जब पूर्ण वर्षा होने लगती है, स्थान-स्थान की सारी वस्तुएँ अधिक वर्षा होने से नदियों के द्वारा समुद्र में जा गिरती हैं, तब पुनः देश में बीमारी कम हो जाती है। यही रुद्रकृत विष का पीना है। इसके अनन्तर उच्चैःश्रवाः हय और ऐरावत हाथी उस समुद्र से उत्पन्न होता है। इसका भाव यह है कि श्रवस् नाम श्रवण, यश, कीर्ति आदि का है, इस हेतु 'उच्चैःश्रवाः' वायु का नाम है, क्योंकि वायु का यश उच्चैः, अर्थात् उच्च=अधिक है। वर्षाऋतु में जो वायु उत्पन्न होता है उसका नाम उच्चैःश्रवा है, क्योंकि यदि वायु न हो तो मेघ को इधर-उधर ले-जाकर कौन बरसावे। वर्षाऋतु में प्रजाएँ वायु की राह देखती रहती हैं। प्रजाओं को अच्छे प्रकार ज्ञात रहता है कि अमुक वायु के चलने से अवश्य वृष्टि होगी। इस हेतु उस वायु की कीर्ति को प्रजाएँ बहुत गाती हैं। इसी कारण उस वायु का नाम उच्चैःश्रवाः (उच्च यशवाला) है। यह इन्द्र का वाहन है। ऐसे-ऐसे स्थान में वायु के अधिष्ठातृ देव का नाम इन्द्र है। (अधिष्ठातृ देव की कल्पना भी आधुनिक है, परन्तु इसी कल्पना पर ये सब आख्यायिकाएँ भी कल्पित हैं, इस हेतु वायु को अधिष्ठातृदेव मानना पड़ता है) उस देव का यह उच्चैःश्रवाः वाहन है। इसमें सन्देह ही क्या है? अथवा इन्द्र नाम सूर्य का भी है। सूर्य के अधीन वायु है इस हेतु उच्चैःश्रवा भी इन्द्र, अर्थात् सूर्य के अधीन है, ऐसा भाव भी हो सकता है। इसको अश्व इस हेतु कहा है कि "अशूङ् व्याप्तौ संघाते च", जो व्यापक हो, जो घनीभूत हो अथवा जैसे घोड़ा आदमी को लेकर अभीष्ट स्थान पर पहुँचाता है, इसी प्रकार यह वायु मेघ को अपने ऊपर लादकर मानो अभीष्ट स्थान में पहुँचाया करता है, इस हेतु यह अश्व कहा गया है। अब आगे ऐरावत हाथी प्रकट होता है। इरा नाम अन्न, वर्षा आदि का है "**इरां दृणातीति वा इरां ददातीति वा इरां दधातीति वा इरां दारयते इति वा इरां धारयते**

इति वा'' इत्यादि निरुक्त में देखिए। इरा जिसका हो वह ''इरावान्'' इरावान् का जो स्वामी वा इरावान् सम्बन्धी वस्तु उसे ''एरावत'' कहते हैं। ऐरावत नाम यहाँ मेघ का ही है। उस मेघ का नाम ऐरावत है जो वर्षा से भरा हुआ रहता है और मानो हाथी के समान मन्दगति से आकाश में चल रहा है। यह मेघ की एक दशा का वर्णन है।

इसके अनन्तर ''पारिजातवृक्ष'' प्रकट होता है। यह भी मेघ की ही एक दशा का निरूपण है। आकाश में चारों ओर वृक्ष के समान आकार दीखने लगते हैं। वे ही पारिजात हैं। जो परि=चारों ओर, जात=उत्पन्न हों, वे परिजात। परिजात का ही पारिजात बन जाता है। इसी का नाम ''पर्जन्य'' भी है। तब कौस्तुभमणि प्रकट होता है। मणि नाम प्रस्तर (पत्थर) का है। ''कु'' नाम पृथिवी का है सप्तमी में कौ होता है **''कौ पृथिव्यां पदार्थान् यः स्तोभति स्तभ्नाति हिंसतीति कौस्तुभो मेघवृष्टप्रस्तरः'',** पृथिवी पर पदार्थों को जो हिंसित करे, उसे कौस्तुभ कहते हैं, अर्थात् मेघ से गिरे हुए प्रस्तर का नाम यहाँ ''कौस्तुभमणि'' है। वह विष्णु का भूषण है, अर्थात् विष्णु (सूर्य) के कारण से ही इसकी भी उत्पत्ति होती है। इसी हेतु यह विष्णु का भूषण माना गया है, यह भी मेघ की ही दशा का वर्णन है। अब आगे लक्ष्मीदेवी आविर्भूत होती हैं। लक्ष्मी नाम शोभा का है, यह निरूपण हम कर ही चुके हैं। यहाँ मेघ की शोभा का नाम लक्ष्मी है। इसका भी कारण श्रीसूर्य भगवान् ही हैं, इस हेतु सूर्य की ही शक्ति लक्ष्मी है। यह मेघ की शोभा समुद्र, अर्थात् आकाश के मथन से ही होती है। पश्चात् वारुणी देवी आती है। यह भी वर्षा का ही रूपान्तर है, जो वर्षा सबके ग्रहण योग्य हो वह वारुणी देवी कहलाती है। हे विद्वानो! यह सब वर्षाऋतु का ही वर्णन है। आप लोग स्वयं विद्वान् हैं, विचारें।

हे विचारशील पुरुषो! यह समुद्र-मथन केवल प्रात्यहिक दृश्य का वर्णनमात्र है, इस बात को आप लोग अच्छे प्रकार समझ गये होंगे। जो लोग इस आख्यायिका को सत्य मानते हैं, अर्थात् यह समझते हैं कि यथार्थ में जलमय सागर का मथन हुआ है और विष्णु भगवान् ने मोहिनीस्त्री का रूप धारण कर असुरगणों को धोखा दिया है। वे अपने परम पूज्य देव पर अमार्जनीय कलङ्क लगा रहे हैं, सुन्दर रूप पर वज्रपात कर रहे हैं और स्त्रीजाति को परम दूषित कर रहे हैं। जगत् में हम मनुष्य अपने-अपने आधिपत्य के लिए संग्राम करते हैं, विविध प्रकार के छल-बल से शत्रु को जीतते हैं,

क्या उत्तम, क्या निकृष्ट काम करते रहते हैं। शिक्षा के अनुकूल मनुष्य उत्तम, मध्यम, निकृष्ट हुआ करता है। हम जैसा कर्म करते हैं तदनुसार ईश्वर-नियम से फल पाते हैं। ईश्वर हमारे किसी कार्य में बाधा डालने नहीं आता। वह साधारण नर के समान नहीं है, न उसका कोई शत्रु और न कोई सुहृद् है। वह शुद्ध, पवित्र, निष्कलङ्क है। वह क्या देव, क्या असुर, क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या पक्षी, सब का स्वामी है। सबके लिए बराबर है। वह असुर और देव दोनों का ईश्वर है, तब क्यों छल से असुरों का नाश करेगा और देवों पर अनुग्रह करेगा। यदि यह कहा जाए कि दुष्टों का संहार करना उसका स्वभाव है तो यह सत्य है कि वह दुष्टों का संहार करता है, परन्तु किस प्रकार से? क्या छल-कपट से? नहीं। छल-कपट करना ईश्वर का स्वभाव नहीं। उसका एक गुप्त नियम है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति कर्मफल पा रहा है। यही ईश्वरकृत दण्ड है। देखिए, ईश्वर सर्वथा समर्थ है, यदि वह असुरों को दण्ड देना चाहे तो प्रत्यक्ष ही दे सकता है। उसको छल करने की क्या आवश्यकता है? जो प्रबल शत्रु होता है वह छल नहीं करता। वह अपने दुर्बल शत्रु को प्रत्यक्ष ही पकड़ छिन्न-भिन्न कर देता है। ईश्वर सबसे अधिक प्रबल है। इस हेतु इसको कपट करने की कोई आवश्यकता नहीं। हे विद्वानो! अज्ञानी बालक ईश्वर को छली-कपटी बनाते हैं। जब देश की दशा बहुत गिर जाती है, चारों ओर अज्ञानी-ही-अज्ञानी भर जाते हैं तब वे अनभिज्ञ, अज्ञानी पुरुष अपने पूज्यदेव को भी अपने समान बना लेते हैं। यदि वह अज्ञानी चोरी करता है तो वह अपने देव को भी चोर बना लेता है, अर्थात् कोई ऐसी कथा गढ़ लेता है कि जिससे सिद्ध हो कि उसका देव भी चोर है। इसी प्रकार व्यभिचारी अपने देव को व्यभिचारी बना लेता है। कपटी अपने देव को कपटी बना लेता है। जिस देश में छल-कपट करनेवाले पूज्यदेव हों, वहाँ समझना चाहिए कि इस देश में विवेकी पुरुष निवास नहीं करते। प्रजाएँ जङ्गली हैं, अज्ञानता बहुत विस्तृत है। राजा उन्मत्त है। विद्या की चर्चा नहीं है। मनुष्य स्वतन्त्र-विचार-रहित हैं इत्यादि, परन्तु इस देश में प्रारम्भ से ही विद्या थी। लोग बुद्धिमान् थे तब क्या सम्भव है कि यहाँ के लोग अपने देव को कपटी बनाते। यथार्थ बात यह है कि जो प्रकृति का वर्णन था उसको लोगों ने अज्ञानवश कथा बना लिया और उसी रूप में यथार्थ सपझने लगे। इस हेतु हे विवेकी पुरुषो! आप लोग विचारें और

अज्ञानी जनों को समझावें कि समुद्र-मथन आदि का अभिप्राय जो तुम समझते हो वह नहीं है और न तुम्हारा पूज्यदेव स्त्री का रूप धारण कर किसी को ठगता ही है और न असुर, न देव किसी जाति का नाम ही है। विशेष विद्या की ओर ध्यान दो और इन सबके प्राचीन अर्थ समझने के लिए प्रयत्न करो। इत्यलम्।

विष्णु और त्रिविक्रम अथवा वामन

वामन अवतार की कथा भी पुराणों में बहुत विस्तार से गाई गई है। हमें शोक होता कि भारतवर्ष में कैसा घोर अन्धकार का समय आ गया था जब यहाँ लोग अपने परम पूज्यदेव को छली देख प्रसन्न होते थे और विविध स्तुति-प्रार्थनाओं से उस कपटी देव को प्रमुदित करते थे। अबतक भी यही प्रथा चली आती है। लोग नहीं समझते हैं कि बड़ों का अनुकरण लोग झट से कर लेते हैं। जिसका देवता छल करता हो और अपने आचरण से छल करना सिखलावे उसका पूजक कब निश्छली हो सकता है। इसके साथ-साथ जब हम यह देखते हैं कि इन आख्यायिकाओं को किस प्रकार वैदिक शब्दों के साथ मिलाया है तब हमें और भी अधिक चिन्ता उपस्थित होती है कि क्यों ऐसा कलङ्क वेदों पर मढ़ा और वेदों के विस्पष्ट अर्थों का प्रकाश न कर उसके स्थान में एक नवीन कथा गढ़ बड़ा ही अनर्थ फैलाया, जिससे देश के धर्म, आचरण, गौरव, पवित्रता, शुद्धता, आदि सब नष्ट हो गये। एवमस्तु!

वामन अवतार की समालोचना अभी कर्त्तव्य है। इसकी मीमांसा करते हुए हमें आप लोगों से यह कहना पड़ता है कि जब मनुष्य धीरे-धीरे अज्ञानी बन गये, वेद का अध्ययन-अध्यापन छोड़ दिया, मिथ्या कथाएँ उन्हें मोहित करने लगीं और आध्यात्मिक परिश्रम-शून्य होते गये, तब ऐसी-ऐसी कथाएँ देश में प्रचलित होने लगी। इस अवस्था में भी वेदों पर ही लोगों का विश्वास था। जो लोग कुछ पढ़े-लिखे थे, वेदों की ही वार्त्ता सुनाया करते थे। लोग प्रीतिपूर्वक सुना करते थे। इस समय में एक घटना उपस्थित हुई कि वेद की जो वार्त्ता कुछ कठिन थी, जिसको साधारण जन नहीं समझ सकते थे, उस कथा को बांचनेवाले उस वार्त्ता को कुछ परिवर्तन कर अथवा उसपर एक नई कथा बनाकर कहने लगे, जिससे श्रोताओं को रोचक लगे। समयान्तर में वे ही रोचक कथाएँ सत्य हो गईं। आजकल भी जब कथावाचक कहीं पर कथा कहते हैं

तब उनमें बहुत कुछ नमक-मिरिच लगाते हैं। यदि कोई कठिन विषय आता है तो उसपर नये-नये प्रबन्ध (Allusion) कहते हैं। भिन्न-भिन्न वाचक भिन्न-भिन्न प्रबन्ध। इससे इनकी प्रतिष्ठा होती है। उदाहरण के लिए आप यह समझें कि कहीं पर यह कथा आई कि 'अगस्त्य समुद्र सोखता है', यहाँ अगस्त्य नाम सूर्य का है और समुद्र नाम आकाश का है। वर्षाऋतु के बाद अगस्त्य का उदय होता है, अर्थात् वर्षाऋतु के अनन्तर सूर्य का नाम अगस्त्य होता है। जैसे सूर्य, सविता, अर्यमा, इन्द्र, विष्णु, पूषा आदि समय के अनुसार सूर्य के नाम हैं, वैसे ही अगस्त्य भी वर्षाऋतु के अनन्तर सूर्य का नाम होता है। "**अगं पर्वतं मेघं स्तायति संघातयति सम्यङ् नाशयति यः सोऽगस्त्यः**" जो मेघ को अच्छे प्रकार से नष्ट-भ्रष्ट कर दे उसे अगस्त्य कहते हैं, अर्थात् शरद्ऋतु का सूर्य। इस ऋतु में सूर्य 'समुद्र', अर्थात् आकाशस्थ मेघ को बिल्कुल सोख जाता है। इस हेतु "अगस्त्य समुद्र को सोखता है" यह वार्त्ता कहीं पर मानो आई। अब कथावाचक देखने लगे कि इसका क्या अर्थ करें। इस समय अगस्त्य का सूर्य और समुद्र का आकाश अर्थ भी विद्यमान नहीं रहा। इन शब्दों का अर्थ भी बहुत कुछ परिवर्तित हो गया। इस अवस्था में वाचकों ने एक रोचक कथा बनाली और लोगों को सुना दी कि इसका भाव यह है कि अगस्त्य एक ऋषि था। वही किसी कारणवश समुद्र को पी गया। अब क्यों पी गया, क्या कारण उपस्थित हुआ पुनः समुद्र कहाँ से आ गया, इत्यादि शङ्का होने पर इन सबके भी समाधान बनाते गये। समयान्तर में यह एक बड़ी लम्बी कथा बन गई, जब-जब लोगों ने कुछ शङ्का की, कह दिया कि धर्म में शङ्का नहीं करनी चाहिए। प्रजाएँ मूढ़ हो ही चुकी थीं, अतः विश्वास कर लिया। जो अत्यन्त अज्ञानी थे वे इसपर अधिक प्रसन्न होने लगे कि आहा! हमारे ऋषि कैसे प्रतापशाली थे।

अब देखिए, यह कथा क्यों उत्पन्न हुई ? अगस्त्य और समुद्र शब्द के प्राचीन अर्थ न जानने के कारण। अथवा जो लोग प्राचीन अर्थ जानते भी रहे होंगे उन्होंने भी यह समझा होगा कि प्रजाएँ इस गूढ़ भाव को नहीं समझ सकेंगी। अगस्त्य और समुद्र शब्द का अर्थ यदि समझावें भी तथापि सर्वसाधारण को समझने में बड़ी कठिनाई होगी इससे अच्छा यही है कि इसपर कोई प्रबन्ध (Allusion) बनाकर इनको समझा दिया जाए। इस प्रकार देश में हज़ारों कथाएँ उत्पन्न हो गईं। ऐसी ही वार्त्ता इस वामन अवतार की आख्यायिका के साथ है। प्रकरण

के अनुसार अर्थ न जानने से यह मिथ्या ज्ञान उत्पन्न हुआ है।

इस वामन अवतार का कारण भी सूर्यदेव ही है। सूर्य त्रिविक्रम है। त्रिविक्रम पद बारम्बार आया है। तीनों लोकों में अथवा तीनों स्थानों में जिसका विशेष क्रम, अर्थात् पादविक्षेप हो, अर्थात् जिसकी किरण तीनों लोकों में व्याप्त हों, उसे त्रिविक्रम कहते हैं। सूर्य की किरण द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोक में व्याप्त हैं, इस हेतु सूर्य त्रिविक्रम है। अथवा सूर्य प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायङ्काल में किरणरूप पाद को स्थापित करता हुआ भासित होता है, इससे सूर्य ''त्रिविक्रम'' कहाता है। प्रातःकाल सूर्य बहुत छोटा-सा प्रतीत होता है। उस समय 'बलि' जो मेघ अथवा अन्धकार है, वह प्रबल रहता है। सूर्य के उदय को मानो रोके हुए रहता है। ज्यों-ज्यों सूर्य ऊपर बढ़ता जाता है त्यों-त्यों बलि (अन्धकार) पाताल को, अर्थात् नीचे को चला जाता है। उस समय सूर्य की चरणरूप किरण तीनों लोकों में फैल जाती हैं, बलि के रहने के लिए कोई स्थान नहीं मिलता। इसको विष्णु (सूर्य) पाताल भेज देता है। देवगण, अर्थात् जीवगण सूर्य के उदय से बड़े प्रसन्न होते हैं। यही इस कथा का भाव है। अब इसपर आप लोग विचार करें।

एवं पुत्रेषु नष्टेषु देवमाताऽदितिस्तदा।
हृते त्रिविष्टपे दैत्यैः पर्यतप्यदनाथवत्॥ १॥
एकदा कश्यपस्तस्या आश्रमं भगवानगात्।
निरुत्सवं निरानन्दं समाधेर्विरतश्चिरात्॥ २॥
स पत्नीं दीनवदनां कृतासनपरिग्रहः।
सभाजितो यथान्यायमिदमाह कुरूद्वह॥ ३॥

— भागवत ८। १६

श्रीमद्भागवत अष्टम स्कन्ध के षोडशाध्याय से वामनावतार की आख्यायिका का आरम्भ होता है। इसका सार-संक्षेप यह है—

देवासुर-संग्राम होने पर असुरगण विजयी हुए और देवगणों के सब अधिकार छीन लिये गये। इस प्रकार जब देवमाता अदिति के पुत्र इधर-उधर नष्ट-भ्रष्ट हो गये और इनका स्वर्ग-राज्य भी असुरों ने ले-लिया तब अदिति पुत्रों के दुःख से अतिशय दुःखिता हो अनाथवत् विलाप करने लगी। एक समय कश्यप महर्षि अदिति के आश्रम में आकर देखते हैं कि अदिति अति क्लेशार्त्ता है और आश्रम निरानन्द, निरुत्सव हो रहा है। कश्यपजी ने इसका कारण

पूछा। देवमाता अदिति ने सब कारण कह सुनाया। तत्पश्चात् कश्यप ने कहा कि ईश्वर की इच्छा कैसी प्रबल है, यह सम्पूर्ण जगत् स्नेहबद्ध है। कहाँ यह आत्मा। कहाँ यह माया, हे प्रिये! देव और असुर दोनों मेरे पुत्र हैं। इस हेतु असुर आपके भी पुत्र हुए। यदि असुरों का विजय हुआ तो आप क्यों चिन्तित हैं। एवमस्तु। आप भगवान् की सेवा करें। वही आपके मनोरथों को पूर्ण करेगा। उसकी सेवा अमोघ है। इस प्रकार पति से आदिष्टा आदिति पति-प्रदर्शित उपाय के अनुसार व्रत करने लगी। कुछ समय के अनन्तर अदिति के गर्भ से वामनजी उत्पन्न हुए। सब देवगण ने मिलकर इनका उपनयन संस्कार किया। इसके अनन्तर असुराधिप बलि राजा का यज्ञ सुनकर वहाँ गये। बलि ने शास्त्रोचित सत्कार किया। भागवत में सत्कार के विषय में इस प्रकार लिखा है—

स्वागतं ते नमस्तुभ्यं ब्रह्मन् किं करवाम ते॥ २९॥
अद्य नः पितरस्तृप्ता अद्य नः पावितं कुलम्।
अद्य स्विष्टः क्रतुरयं यद्भवानागतो गृहान्॥ ३०॥
अद्याग्नयो मे सुहुता यथाविधि
द्विजात्मज त्वच्चरणावनेजनैः।
हतांहसो वार्भिरियं च भूरहो
तथा पुनीता तनुभिः पदैस्तव॥ ३१॥[१] इत्यादि।

हे ब्रह्मन्! आपका स्वागत हो। आपको नमस्कार हो। आपके लिये हम क्या करें। आज हमारे पितर तृप्त हुए। आज हमारा कुल पवित्र हुआ। आज यज्ञ अच्छी प्रकार से किया गया जो आप हमारे गृह को प्राप्त हुए हैं। आज हमारे अग्नि यथाविधि सुहुत हुए। हे द्विज! आपके चरणों के धोये हुए जलों से हम सब निष्पाप हुए। यह पृथिवी भी पुनीता हुई। हे बटो! आप क्या चाहते हैं। गौ, काञ्चन, सुन्दर धाम, विप्रकन्या, ग्राम, तुरग, गज, रथ, जो आप चाहते हों मुझसे माँगें। बलि के इस वचन को सुन प्रथम वामनजी ने बलि का यथेच्छ गुण वर्णन किया है, इसके वंश की महती कीर्ति गाई है तब अन्त में यह कहा है—

तस्मात्त्वत्तो महीमीषद् वृणेऽहं वरदर्षभात्।
पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र संमितानि पदा मम॥ १६॥

---

१. भागवत ८।१८।२९-३१

नान्यत्ते कामये राजन् वदान्याज्जगदीश्वरात्।
नैनः प्रप्नोति वै विद्वान् यावदर्थप्रतिग्रहः॥ १७॥

—भा० ८।१९

अधिकं योऽभिकांक्षेत स स्तेनो दण्डमर्हति॥[1]

हे दैत्येन्द्र! इस हेतु आपसे मैं थोड़ी पृथिवी माँगता हूँ। मुझको अपने पैर से तीन ही पैर पृथिवी चाहिए। इससे अधिक कामना मैं नहीं कर सकता हूँ। जितना प्रयोजन हो उतना प्रतिग्रह लेने में विद्वान् को पाप नहीं होता। जो अधिक आकांक्षा करता है वह चोर दण्ड के योग्य है।

तत्पश्चात् वामन के वचन सुन बलि राजा बोले—हे बटो! आपके वचन वृद्ध के समान हैं, परन्तु मुझ राजा से तीन पैर पृथिवी माँगते हैं सो अनुचित-सा प्रतीत होता है। एवमस्तु! जो आपकी कामना हो सो लेवें। यह कहकर बलि ने सङ्कल्पपूर्वक तीन-पद पृथिवी दी। तब वामनजी बहुत बढ़ने लगे। एक पैर से पृथिवी, दूसरे पैर से द्युलोक माप लिया। तृतीय पैर की जगह ही नहीं रही। तब वामनजी बोले हे बलि महाराज! अब मुझको तीसरा पैर पृथिवी दो। यदि नहीं देते हो तो पाताल जाओ, क्योंकि तुमने अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं की। इस प्रकार कहकर बलि राजा को पाताल भेज दिया, इत्यादि कथा श्रीमद्भागवत अष्टम स्कन्ध में देखिए। वाल्मीकि-रामायण बालकाण्ड के २९वें सर्ग में वामन अवतार की कथा आई है। कथा का भाव समान ही है। किञ्चिन्मात्र का भेद यह है कि कश्यप ने अपनी पत्नी अदिति के साथ स्वयं तपस्या करके भगवान् से प्रार्थना की है कि आप मेरे और अदिति के पुत्र होवें—**पुत्रत्वं गच्छ भगवन् अदित्या मम चानघ**[2]। भागवत में केवल अदिति का व्रत ग्रहण करना है और रामायण में यहाँ पर शुक्रकृत निषेध प्रभृति की भी चर्चा नहीं है।

अथ विष्णुर्महातेजा अदित्यां समाजायत।
वामनं रूपमास्थाय वैरोचनिमुपागमत्॥ १९॥
त्रीन् पदानथ भिक्षित्वा प्रतिगृह्य च मेदिनीम्।
आक्रम्य लोकान् लोकार्थी सर्वलोकहितेरतः॥ २०॥[3]

अनन्तर महातेजस्वी विष्णुजी अदिति के गर्भ से उत्पन्न हुए

---

१. भागवत ७.१४.८ २. वा०रा०बाल० २९.१६
३. वा०रा०बाल० २९.१९-२०

और वामनरूप धारण कर विरोचन-पुत्र बलि के निकट आये। उससे तीन पद पृथिवी माँगकर सब लोकों का आक्रमण किया। इत्यादि।

यह कथा पुराणों में परम प्रसिद्ध है। अनेक ग्रन्थों से प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इससे ग्रन्थ का बहुत विस्तार हो जाएगा। अब इसपर विचार करना है कि इस आख्यायिका का मूल कारण क्या है। वेदवित् पुरुषों को विदित है कि शब्दार्थ के भ्रम से इस कथा की उत्पत्ति हुई है। जैसे अगस्त्यकृत समुद्रपान के तात्पर्य का निरूपण करते हुए कथक्कड़ों ने कथा कल्पित की है वैसी ही कथा यहाँ पर कल्पित हुई है। इसका भाव पूर्व में कुछ कह चुका हूँ अब विस्तार से कहता हूँ, सुनिए।

विष्णु शब्दार्थ और विष्णुसूक्त

अथ यद्विषितो भवति तद् विष्णुर्भवति।
विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा ॥ —*निरुक्त दैवतकाण्ड*[1]

अथास्योपरिभाष्यम्—अथ यत् यदा विषितः व्याप्तोऽयमेव सूर्यो रश्मिभिर्भवति तत्तदा विष्णुर्भवति। विशतेर्वा यदा विष्टःप्रविष्टः सर्वतो रश्मिभिर्भवति तदा विष्णुर्भवति। व्यश्नोतेर्वा विपूर्वस्य वाश्नोतेः, यदारश्मिभिरतिशयेनायं व्याप्तो भवति व्याप्नोति वा रश्मिभिरयं सर्वं, तदा विष्णुरादित्यो भवति।

यद्यपि वैदिक भाषा में विष्णु शब्द अनेकार्थक है तथापि जिस विष्णु शब्द को लेकर वामन की कथा सृष्ट हुई है उसका आदित्य (सूर्य) अर्थ है, इसमें यास्काचार्य का प्रमाण—जब वह सूर्य अपनी (रश्मिभिः) किरणों से व्याप्त होकर पूर्ण होता है तब उसी सूर्य का नाम विष्णु होता है। "विश प्रवेशने" धातु से इस शब्द की सिद्धि होती है। जब यह सूर्य किरणों से सर्वत्र प्रविष्ट होता है तब विष्णु कहलाता है। अथवा "वि+अश" धातु से भी विष्णु शब्द सिद्ध होता है। इसका भी तात्पर्य यही है कि जो किरणों के द्वारा सर्वत्र फैल जाए, उसे विष्णु कहते हैं।

यहाँ यास्काचार्य का भाव यह है कि यद्यपि सूर्य सदा किरणों से युक्त ही रहता है, परन्तु पृथिवी की रुकावट के कारण सूर्य को हम लोग सदा नहीं देख सकते, अतः प्रातःकाल सूर्य रश्मिरहित दिखता है। ज्यों-ज्यों ऊपर जाता है, त्यों-त्यों अपने किरणों से संयुक्त

---

१. निरुक्त १२.२.१९

होता हुआ भासित होता है। इस प्रकार जिस समय वह सूर्य मानो अपनी समस्त किरणों से संयुक्त हो जाता है, उनके द्वारा क्या द्युलोक, क्या अन्तरिक्ष, क्या पृथिवी—सर्वत्र प्रकीर्ण हो जाता है, उस अवस्था में उस सूर्य का नाम "विष्णु" होता है। इससे सिद्ध हुआ कि सूर्य का ही नामान्तर "विष्णु" है। अब यास्काचार्य इसका एक वैदिक उदाहरण देते हैं जहाँ पर विष्णु शब्द का अर्थ सूर्य होता है और उसका स्वयं अर्थ भी करते हैं। यथा—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे॥

यदि किञ्च तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदं त्रेधा भावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णनाभः। समूळ्हमस्य पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यते। अपि वोपमार्थे स्यात् समूळ्हमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति।

इसपर दुर्गाचार्य का भाष्य इस प्रकार है—

यदिदं किञ्चिद् विभागेनावस्थितं तद्विक्रमते विष्णुः आदित्यः। कथमिति? यत आह "त्रेधा निदधे पदम्" निधत्ते पदं निधानं पदैः। क्व? तत्र तावत् पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। पार्थिवोऽग्निर्भूत्वा पृथिव्यां यत्किञ्चिदस्ति तद्विक्रमते तदधितिष्ठति। अन्तरिक्षे विद्युदात्मना। दिवि सूर्यात्मना। यदुक्तम्। तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कम्। इति। समारोहणे। उदयगिरावुद्यन् पदमेकं निधत्ते। विष्णुपदे माध्यन्दिनेऽन्तरिक्षे। गयशिरसि अस्तंगिरौ। इत्यौर्णनाभ आचार्यो मन्यते एवम्। समूळ्हमस्य पांसुरे अस्मिन् प्यायने एतस्मिन् अन्तरिक्षे सर्वभूतवृद्धिहेतौ यन्मध्यदिनं पदं विद्युदाख्यं पदं तत् समूळ्हम् अन्तर्हितं न नित्यं दृश्यते। तदुक्तम्। स्वप्नमेतन्मध्यमं ज्योतिरनित्यदर्शनम्। इति।

अपि वोपमार्थे स्यात् समूळ्हमिव पांसुले पदं न दृश्यते इति। यथा पांसुले प्रदेशे पदं न्यस्तमुत्क्षेपणसमनन्तरमेव पांशुभिराकीर्णत्वात् न दृश्यते एवमस्य मध्यमं विद्युदात्मकं पदमाविष्कृतिसमकालमेव व्यवधीययो नावतिष्ठत इत्यर्थः। इति।

भावार्थः—(विष्णुः) आदित्य=सूर्य (इदम्) जो कुछ यह विभाग से स्थित है, इस सबमें (विक्रमते) अपने किरणों से व्याप्त हो जाता है, अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक, जो पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, उन सबमें सूर्य फैल जाता है। कैसे फैलता

है, वह आगे कहते हैं (त्रेधा निदधे पदम्) वह सूर्य तीन स्थानों में अपने पद को, अर्थात् अपनी किरणों को स्थापित करता है। वे तीन स्थान कौन हैं, इस प्रश्न पर यास्काचार्य दो आचार्यों की सम्मति कहते हैं (पृथिव्याम्०) पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में वह विष्णु, अर्थात् सूर्य किरणों को स्थापित करता है अथवा किरणों से इन तीनों स्थानों में विस्तृत हो जाता है। यह शाकपूणि आचार्य का मत है। अब दूसरे आचार्य और्णनाभ कहते हैं कि वह विष्णु=सूर्य (समारोहणे) उदयगिरि पर उदित होता हुआ एक पद रखता है (विष्णुपदे) मध्यदिन अन्तरिक्ष में एक पद रखता है और (गयशिरसि) अस्ताचल में एक पद स्थापित करता है। अब आगे तृतीय चरण का अर्थ करते हैं। (पांसुरे) इस अन्तरिक्ष में (अस्य) इस सूर्य का (समूढम्) एक पद छिपा हुआ है, अर्थात् दीखता नहीं है। अथवा जैसे मृत्तिकामय स्थान में पदचिह्न नहीं दीखता है। वैसे ही इसका पद अन्तरिक्ष में नहीं दीखता। दुर्गाचार्य का भाव यह है कि यहाँ विष्णु शब्द का अर्थ सूर्य है। वह विष्णु=सूर्य पृथिवीस्थ अग्निरूप से पृथिवी पर, विद्युत् रूप से अन्तरिक्ष में और अपने ही रूप से द्युलोक में इस प्रकार तीनों लोकों में विस्तृत होता है, परन्तु अन्तरिक्ष में जिस विद्यत् रूप से सूर्य व्याप्त होता है वह विद्युत् नहीं दीखती। यदि कुछ दीखती भी है तो झट लुप्त हो जाती है। यास्काचार्य विस्पष्ट रूप से कहते हैं कि यह सूर्य का वर्णन है, जिस हेतु सूर्य तीनों लोकों में व्याप्त होता है, अतः वह त्रिविक्रम कहलाता है और जिस अवस्था में वह सर्वत्र प्रकीर्ण होता है, तब वह 'विष्णु' नाम से व्यवहृत होता है। तीनों लोकों में फैलना ही विष्णु (सूर्य) का त्रिविक्रम है। इससे प्रतीत हुआ कि श्रीयास्काचार्य के समय में भी वामनावतार की कथा कल्पित नहीं हुई थी। यदि होती तो इसकी चर्चा अवश्य करते।

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे।
पृथिव्याः सप्तधामभिः॥ १६॥
त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्॥ १८॥
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ १९॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्॥ २०॥

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत्परमं पदम्॥ २१॥ —ऋ० १/२२

अर्थ—(विष्णुः) सूर्य (सप्तधामभिः) जगत् का धारण-पोषण करनेवाली अपनी सात प्रकार की किरणों के द्वारा (यतः+पृथिव्याः) जिस पृथिवी से लेकर द्युलोक पर्यन्त—सर्वत्र (विचक्रमे) विशेष रूप से भ्रमण करता है (अतः) इसी से (नः) हमारे (देवाः) बृहस्पति, शुक्र आदि नक्षत्र और वायु आदि अन्य देव पृथिवी से लेकर तीनों लोकों की (अवन्तु) रक्षा करें। ईश्वर कहता है कि जहाँ-जहाँ सूर्य अपनी किरणों के द्वारा व्याप्त होता है, वहाँ-वहाँ सूर्य तो इन स्थानों की रक्षा करता ही है, परन्तु वायु आदि अन्य देव भी हमारे इन स्थानों की अपने-अपने कार्य से रक्षा करें॥ १६-१७॥

(अदाभ्यः) अहिंस्य, अविनश्वर, चिरस्थायी (गोपाः) अपने तेज से जगत् की रक्षा करनेवाला (विष्णुः) सूर्य (त्रीणि+पदा) पद=स्थान—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीन स्थानों में (विचक्रमे) भ्रमण करता है अथवा तीन स्थानों में मानो तीन पद रखता है। जैसाकि पूर्व में वर्णन किया है। क्या करता हुआ (अतः) इस भ्रमण से (धर्माणि) प्रजाओं में विविध प्रकार के धर्मों का (धारयन्) पोषण करता हुआ। सूर्य के उदय से ही लोग धर्म-कर्म करना आरम्भ करते हैं। इस हेतु धर्म का भी पोषक मानो सूर्य ही हैं। यहाँ सूर्य (त्रीणि+पदा) तीन पद अर्थात् तीन पैर चलता है। त्रिशब्द अल्प वाचक है। तब यह अर्थ हुआ कि पृथिवी आदि तीनों लोकों की रक्षा के लिए सूर्य को केवल तीन पैर चलना पड़ता है, अर्थात् बहुत कम चलना पड़ता है, क्योंकि सूर्य अपनी ही कक्षा पर भ्रमण करता है। पृथिवी आदि के समान किसी दूसरे की प्रदक्षिणा नहीं करता। इस हेतु मानो महाराजवत् किञ्चित् भ्रमण से ही सूर्य सबकी रक्षा कर रहा है। मानो तीन लोकों की रक्षा के लिए उसे केवल तीन पद ही रखने पड़ते हैं। यह आलङ्कारिक वर्णन है॥ १८॥

हे मनुष्यो! (विष्णोः) सूर्य के (कर्माणि) पालन आदि कर्मों को (पश्यत) देखो। (यतः) जिससे (व्रतानि) व्रत=धर्म-कर्म (पस्पशे) करते हैं। जो सूर्य (इन्द्रस्य) वायु का (युज्यः) योग्य अनुकूल (सखा) मित्र है, सूर्य की स्थिति से ही जगत् के सब कर्म-धर्म स्थित हैं, क्योंकि सूर्य के कारण वायु चलता है और वायु

से सब जीवित हो रहे हैं। जीवन सब व्रत होते हैं। इसी हेतु इस मन्त्र में इन्द्र, अर्थात् वायु को सूर्य का सखा कहा है और सूर्य से व्रत का होना वर्णित हुआ है॥ १९ ॥

(सूरयः) विद्वान् (सदा) सर्वदा (विष्णोः) सूर्य के (तत्) उस (परमम्) उत्कृष्ट (पदम्) पद को (पश्यन्ति) देखते हैं, अर्थात् विद्वान् सूर्य के तत्त्व को जानते हैं। यहाँ दृष्टान्त देते हैं (दिवि+इव) जैसे आकाश में (आततम्) सब प्रकार से विस्तृत (चक्षुः) नयन सब-कुछ देखता है, अर्थात् किसी अवरोध के न होने के हेतु जैसे आकाश में प्रेरित नयन आकाशस्थ सब पदार्थ को विशदरूप से देखता है तद्वत् उस परमपद को विद्वान् देखते हैं॥ २० ॥

(विष्णोः+यत्+परमं+पदम्) विष्णु का जो परम पद है (तत्) उसको (विपन्यवः) सदा स्तुति-प्रार्थना करनेवाले अथवा जगत् के मिथ्या जंजाल से जो विनिर्मुक्त हैं और (जागृवांसः) जागरण करनेवाले हैं (विप्रासः) वे मेधावी (समिन्धते) प्रकाशित करते हैं॥ २१ ॥

सूर्य का तत्त्व जानना भी परमविद्या का कार्य है। आप लोगों को यह वाक्य हास्य-सा प्रतीत होगा। आप लोग कहेंगे कि सूर्य का जानना कौन-सी विद्या की बात है। हाँ, ब्रह्म के जानने के लिए सारी विद्या की आवश्यकता है। हे विद्वानो! ऐसी बात न कहें। देखिए आजकल विद्या बिना कैसा अन्धकार देश में फैला हुआ है। सूर्यग्रहण लगने पर लाखों आदमी कुरुक्षेत्र आदि स्थानों को दौड़ते हैं। यदि ग्रहण को समझ जाएँ तो वे लोग क्योंकर इस अविद्या में फँसकर मरें। पुनः पृथिवी किस आधार पर है? आजकल नाना उत्तर लोग देते हैं, परन्तु वे सभी मिथ्या और कपोलकल्पित हैं। यदि सौर-विद्या को जानते तो ऐसी मिथ्या कल्पना नहीं करते। पुनः रात-दिन कैसे होता है, ऋतुएँ क्योंकर परिवर्तित होती हैं। चन्द्र क्यों घटता-बढ़ता है, इत्यादि ज्ञान सूर्य-सम्बन्धी विद्या के जानने से ही होता है। हे शास्त्रवेत्ताओ! हम क्या वर्णन करें, आप लोग निश्चय जानें कि जिसने सूर्य के गुणों को नहीं जाना वह सर्वदा अविद्या-अज्ञान में फँसा रहेगा। वह ईश्वर को क्या जानेगा? प्रथम ईश्वरीय विभूतियाँ जाननी चाहिएँ। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि ईश्वर की विभूतियाँ हैं, अज्ञानी को समझाने पर भी सूर्य-सम्बन्धी आकर्षण आदि विद्याएँ समझ में नहीं आएँगी। इस हेतु मन्त्रों में कहा गया

है कि विद्वान् मेधावी रात्रिन्दिवा चिन्तन करनेवाले, एकान्तसेवीजन इस सौर-विद्या का साक्षात् अनुभव करते हैं। ऐसा करनेवाले ज्ञानी पुरुष धन्य हैं।

ये मन्त्र ईश्वरपक्ष में भी घटते हैं। विष्णु नाम ब्रह्म का भी है। यदि कहें कि इस पक्ष में "सप्तधाम" और "त्रिपद" आदि शब्दों का क्या अर्थ होगा। हे बधुवरो! ईश्वरपक्ष में "सप्त" शब्द का "सर्पणशील" अर्थात् चलनेवाला अर्थ होगा, संख्या नहीं जो "जगत्" और "संसार" शब्द का अर्थ है वही अर्थ "सप्त" का भी है। इस अर्थ में अन्य आचार्यों ने भी "सप्त" शब्द का प्रयोग किया है और "त्रिपद" शब्द का अर्थ तीन स्थान हैं। अब मन्त्रों का अर्थ सुनिए—

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे।
पृथिव्याः सप्तधाममिः ॥ १६ ॥

(यतः) जिस कारण (विष्णुः) सर्वत्र व्यापक परम ब्रह्म (पृथिव्याः) पृथिवी से लेकर जितने (सप्तधामभिः) सर्पणशील= गमनशील स्थान हैं उनके साथ ही (विचक्रमे) व्यापक हैं, अर्थात् सबमें व्यापक हैं, (अतः) इस हेतु (देवाः) विद्वान् गण (नः) हम लोगों को (अवन्तु=अवगमयन्तु) समझावें, अर्थात् वेद से यह निश्चय है कि ब्रह्म सर्वव्यापक है। किस प्रकार से वह व्यापक है उसका क्या रूप है, वह क्यों नहीं दीखता है, व्यापक है तो वह क्या करता है, इत्यादि विषय हम साधारण प्रजाओं की समझ में नहीं आते हैं, विद्वान् समझावें। ऐसी प्रार्थना प्रजाएँ विद्वानों से करती हैं॥ १६ ॥

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूळहमस्य पांसुरे॥ १७ ॥

(विष्णुः) सर्वव्यापक परमात्मा (इदम्) इस दृश्यमान जगत् में (विचक्रमे) व्यापक है। केवल इसी दृश्यमान जगत् में ही व्यापक है, इतना ही नहीं, अपितु उसने (त्रेधा) तीनों स्थानों—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक में (पदम्) अपना स्थान (निदधे) निहित, अर्थात् स्थापित किया है। जो अदृश्य वा दूर वा निकट स्थान हैं, उन सबमें वह रम रहा है। अथवा (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदम्) स्थान=जगत् को (निदधे) निहित, अर्थात् स्थापित किया है। प्रत्येक वस्तु वाष्प; द्रव और स्थूलरूप में बनाई हुई है। प्रत्येक वस्तु आकर्षण, विकर्षण और गमनयुक्त है। प्रत्येक वस्तु सत्त्व, रज और तम से युक्त है।

प्रत्येक वस्तु प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा से युक्त है। इत्यादि अनेक त्रित्व से यह जगत् संयुक्त है। इस हेतु कहा है कि इस पद (स्थान=जगत्) को तीन प्रकार से स्थापित किया है। अब आगे कहते हैं कि यद्यपि ब्रह्म सर्वव्यापक हैं तथापि (अस्य) इस ब्रह्म का तत्त्व (पांसुरे) अज्ञानरूप धूलिमय प्रदेश में (समूळ्हम्) छिपा हुआ है। अज्ञानता के कारण वह नहीं दीखता। यहाँ 'त्रेधापदम्' से यह भी सूचित होता है कि ईश्वर किसी एक स्थान में कहीं बैठा हुआ नहीं है जैसाकि अज्ञानीजन मानते हैं, किन्तु वह सर्वत्र विद्यमान है, यह उपदेश मन्त्र देता है॥ १७॥

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्॥ १८॥

(गोपाः) रक्षक (अदाभ्यः) अहिंस्य, अविनश्वर (विष्णुः) परमात्मा निश्चय से हे मनुष्यो! (त्रीणि+पदा) तीनों स्थानों में (विचक्रमे) प्राप्त, अर्थात् व्यापक है। तीन पद से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ग्रहण है, (अतः) इस व्यापकता से (धर्माणि) समस्त पदार्थ शक्तियों को (धारयन्) धारण करता हुआ वह स्थित है। पदार्थों की शक्ति का नाम भी संस्कृत में धर्म होता है। जैसे अग्नि का धर्म, अर्थात् अग्नि का गुण वा शक्ति। यदि ब्रह्म व्यापक नहीं होता और अपनी धारणा से सबकी यथोचित रक्षा नहीं करता तो यह जगत् कैसे स्थित रहता॥ १८॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ १९॥

हे मनुष्यो! प्रत्यक्षतया (विष्णोः) परमात्मा के (कर्माणि) सृजन, पालन, संहरणरूप कर्मों को (पश्यत) देखो। (यतः) जिस कारण उस परमात्मा ने (व्रतानि) शुभ कर्म अथवा ज्ञानों को (पस्पशे) फैलाया है। जिस हेतु ईश्वर स्वयं सृजन आदि कर्म करता है, और शुभ कर्म वा ज्ञान को उसने इस जगत् में विस्तृत किया है, अतः इसको देखना वा जानना आवश्यक है। हे मनुष्यो! वह परम दयालु है। (इन्द्रस्य) इन्द्रियों से ज्ञान करनेवाला जो हम लोगों का आत्मा है, उसका (युज्यःसखा) अनुकूल मित्र है। परमात्मा जीवात्मा का परम हितैषी है। इस हेतु इसको कर्म करना उचित है, क्योंकि इसका मित्र ईश्वर स्वयं कर्म कर रहा है॥ १९॥

यद्यपि ईश्वर का कर्म प्रत्यक्ष है तथापि इसको मेधावीजन ही देखते हैं। इस बात को आगे कहते हैं—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्॥ २०॥

(सूरयः) विद्वान्‌जन (विष्णोः) ईश्वर के (तत्+परमं+पदम्) उस परमपद को, अर्थात् ईश्वरीय तत्त्व को (सदा) सर्वदा (पश्यन्ति) देखते हैं, अर्थात् जानते हैं। इसमें दृष्टान्त कहते हैं (दिवि+इव) जैसे आकाश में (आततम्) व्याप्त वस्तु को (चक्षुः) नयन देखता है। अथवा आकाश में प्रहित नयन जैसे देखता है तद्वत्॥ २०॥

जब वे ही विद्वान्‌जन उस पद को प्रकाशित करते हैं तभी उसका ज्ञान होता है। इसी तथ्य को आगे कहते हैं—

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत्परमं पदम्॥ २१॥

(विपन्यवः) जो सदा स्तुति-प्रार्थना करनेवाले हैं वा जो सांसारिक व्यवहारों से पृथक् हैं (जागृवांसः) ईश्वरीय विभूति-चिन्तन में जो सदा जागरित हैं, ऐसे (विप्रासः) मेधावीजन (विष्णोः यत्+परमम्+पदम्) विष्णु का जो परमपद है, (तत्) उसको (सम्+इन्धते) अच्छे प्रकार प्रकाशित करते हैं॥ २१॥

इसके आगे और भी विष्णुसूक्त लिखते हैं जिससे आप लोगों को विस्पष्टरूप से सुबोध हो जाए कि किस प्रकार जगत् में भ्रम उत्पन्न होता है। इन मन्त्रों में आपने देखा कि बलि वा वामन आदि की वार्त्ता नहीं है। केवल "त्रिपद" और "विक्रमण" करने का वर्णन आता है। एवमस्तु। आगे देखिए—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥ १॥

—ऋ० १।१५४।१

अर्थ—(नु कम्) शीघ्र (विष्णोः) सूर्य के (वीर्याणि) पराक्रम=शक्तियों को (प्रवोचम्) कहता हूँ, अर्थात् सूर्य की शक्तियों को प्रकाशित करता हूँ। आगे सूर्य-वीर्य दिखलाते हैं। (यः) जिसने (पार्थिवानि) आकाश-सम्बन्धी (रजांसि) लोकों का (विममे) निर्माण किया और जिसने (उत्तरम्) पृथिवी की अपेक्षा उत्तर अथवा ऊपर (सधस्थम्) बृहस्पति आदि ग्रहों के रहने के स्थान को (अस्कभायत्) अपनी आकर्षण शक्ति से स्तम्भित, अर्थात् रोक रक्खा है। पुनः वह सूर्य कैसा है (त्रेधा) तीनों स्थानों में अग्नि, वायु और सूर्यरूप से (विचक्रमाणः) भ्रमण करता हुआ। पुनः कैसा

है ? (उरुगायः) बड़े-बड़े विद्वानों से गीयमान है। हे विद्वानो ! ईश्वर सम्पूर्ण जगत् का साधारणकारण है, परन्तु विशेष-विशेष कारण अन्य-अन्य पदार्थ हैं। जैसे पानी न हो तो अन्न की उत्पत्ति न हो। इस हेतु अन्न की उत्पत्ति का कारण जल है। यदि वायु न हो तो सभी पदार्थ नष्ट हो जाएँ। इस हेतु जीवन का कारण वायु है। इस प्रकार आप देखें कि ईश्वर सामान्यकारण है और अन्य-अन्य पदार्थ विशेष कारण हैं। इसी प्रकार इस पृथिवी का विशेष कारण सूर्य ही है। सूर्य से ही यह पृथिवी निकली है। पहले यह अग्नि का गोला थी। धीरे-धीरे इसकी अग्नि शान्त होती गई। अब भी इसके भीतर बहुत अग्नि विद्यमान है। पुनः यह पृथिवी कभी-कभी जल से पूर्ण हो जाती है। जहाँ पहले समुद्र था वहाँ अब स्थल है, इत्यादि परिवर्तन इसमें होता रहता है। सूर्य के कारण ही वायु चलता है। मेघ होता है। वर्षा होती है। वायु आदि के कारण पृथिवी पर से अग्नि ठण्डी होती गई और इसमें विविध ओषधियाँ होने लगीं। यथार्थ में इस सबका कारण सूर्यदेव ही है। सूर्य अपने आकर्षण से अनेक ग्रहों को चला रहा है। इस हेतु मन्त्र कहता है कि सूर्य ने उत्तर ऊर्ध्व=स्थल को पकड़ रक्खा है। इस हेतु इसका यश बहुत है। द्युलोक से पृथिवी तक किसी-न-किसी रूप में वह सूर्य विद्यमान है, अतः सूर्य 'त्रेधा विचक्रमाण' है।

ईश्वरपक्ष में (विष्णोः) सर्वव्यापक परमात्मा के वीर्यों को मैं सदा और शीघ्र गाया करूँ, अर्थात् वृद्धावस्था वा आपत्ति आने पर ही इसके वीर्य को गाऊँ, यह बात नहीं, किन्तु (नु कम्) शीघ्र, अर्थात् बाल्यावस्था से ही इसकी कीर्ति गाऊँ। वह कैसा है। (यः) जो (पार्थिवानि) स्थूल=बड़े-बड़े (रजांसि) लोक-लोकान्तरों को (विममे) बनाया करता है। रजस् नाम लोक का है "**लोका रजांसि उच्यन्ते**" निरुक्त ४।१९। पुनः जो (उरुगायः) ऋषि-महर्षि बड़े-बड़े विद्वानों से गीयमान है और (यः) जिसने (त्रेधा+विचक्रमाणः) तीनों स्थानों में व्यापक होकर (उत्तरम्+सधस्थम्) पृथिवी से लेकर उत्तर-उत्तर सब स्थान को (अस्कभायत्) अपने-अपने स्थान पर स्थिति के लिए रोक रक्खा है॥१॥

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥२॥

अर्थ—(तत्) वह (विष्णुः) सूर्य (वीर्येण) तेज आदि बल

के कारण (प्र+स्तवते) अच्छे प्रकार स्तुत्य होता है, अर्थात् सूर्य के गुणों का वर्णन होता है। (मृगः+न+भीमः) 'न' शब्द वेद में 'इव', 'यथा' आदि अर्थ में भी आता है। जैसे पशुओं में सिंह भयङ्कर और बलिष्ठ होता है वैसे ही ग्रहों के बीच सूर्य भीम है। (कुचरः) पृथिवी आदि सब लोक में विचरण करनेवाला है 'कुषु सर्वासु भूमिषु लोकत्रये संचारी' (गिरिष्ठाः) पर्वतवत् उच्च स्थान में रहनेवाला और (यस्य) जिसके (त्रिषु) तीन (उरुषु) विस्तीर्ण (विक्रमणेषु) पाद रखने के स्थानों में (विश्वा) सब (भुवनानि) प्राणिमात्र (क्षियन्ति) निवास करते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ तक सूर्य का किरण विकीर्ण है वहाँ तक ही प्राणियाँ का निवास है। अनेक सूर्य हैं। उनकी गरमी सर्वत्र प्राप्त होती रहती है। वहाँ-वहाँ सृष्टि होती रहती है। सूर्य की उष्णता त्रिलोक व्यापिनी है, इस कारण सूर्य 'त्रिविक्रम' कहलाता है और सूर्य की व्यापकता का नाम 'त्रिविक्रमण' है॥ २॥

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः॥ ३॥

अर्थ—(विष्णवे) सूर्य को (मन्म) मननीय उत्तम (शूषम्) शोषण शक्ति (एतु) प्राप्त है। वह सूर्य कैसा है (गिरिक्षिते) गिरि= मेघ, मेघ का क्षय करनेवाला पुनः (उरुगायाय) जिसके यश को बहुत विद्वान् गाते हैं। पुनः (वृष्णे) वर्षा के देनेवाला। पुनः (यः) जो सूर्य (एकः इत्) एक ही अकेला ही (इदम्) इस (दीर्घम्) दीर्घ (प्रयतम्) प्रकीर्ण सर्वत्र विस्तृत (सधस्थम्) सहस्थान अर्थात् तीनों लोकों को (त्रिभिः+पदेभिः) तीन पदों से अर्थात् अग्नि, वायु और सूर्य रूप से (विममे) प्राप्त है॥ ३॥

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा॥ ४॥

अर्थ—(यस्य) जिस सूर्य के (त्री+पदानि) तीन स्थान (मधुना) मधु से, अर्थात् आनन्द से (पूर्णा) पूर्ण हैं। पुनः (अक्षीयमाणा) जिनका कभी क्षय नहीं होता। पुनः (स्वधया) अन्नादि सामग्री से जो (मदन्ति) स्वाश्रित प्राणियों को आनन्दित करते हैं, ऐसे वे तीनों स्थान हैं। (यः+उ) जो सूर्य (एकः) अकेला ही (पृथिवीम्) पृथिवी को (उत) और (द्याम्) द्युलोक को और (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) भूत-जात, अर्थात् प्राणियों को (त्रिधातु) तीन धातुओं के समान (दाधार) पकड़े हुए हैं॥ ४॥

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥ ५ ॥

अर्थ—(अस्य) इस सूर्य के (तत्+प्रियम्) उस प्रिय (पाथः) आकाश को (अभि+अश्याम्) मैं प्राप्त हूँ। पाथ=आकाश। यास्क आचार्य ने ऐसा ही अर्थ किया है। यहाँ 'अश्याम्' एक वचन उपलक्षणमात्र है। सब प्राणी सूर्य के प्रिय आकाश में निवास करते हैं। इसी का आगे वर्णन करते हैं (यत्र) जिस आकाश में (देवयवः) दैवी-शक्ति-युक्त अथवा देव=सूर्य के चाहनेवाले (नरः) नर (मदन्ति) आनन्द प्राप्त करते हैं (उरुक्रमस्य) सम्पूर्ण जगत् का आक्रमण करनेवाले (विष्णोः) सूर्य के (परमे+पदे) परम पद में (मध्वः+उत्सः) आनन्द का उत्स—झरना है। (इत्था) इस प्रकार (सः+हि+बन्धुः) वही सूर्य सबका बन्धु है।

विचारने से विद्वानों को विदित होता है कि सूर्य ही प्राणियों का जीवन है। किरण ही सूर्य का पद है। वह सबका उपकारी है, इस हेतु वह 'परम' कहाता है और जहाँ-जहाँ वह परमपद (सूर्यकिरण) है वहाँ-वहाँ निःसन्देह आनन्द है। इसी हेतु मन्त्र में (मध्वः+उत्सः) कहा है॥ ५ ॥

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥ ६ ॥

अर्थ—ईश्वर कहता है कि हे नर-नारियो! (वाम्) तुम दोनों के (वास्तूनि) सुखपूर्वक निवास योग्य स्थान (गमध्यै) गमन के लिए (उश्मसि) हम वहाँ चाहते हैं, (यत्र) जहाँ (भूरिशृङ्गाः) बहुत सींगवाली (अयासः) सदा गमनागमनवाली (गावः) किरण हैं 'गावः' शब्द का अर्थ यहाँ सबने किरण ही किया है, अर्थात् मनुष्यों का वास वहाँ हो, जहाँ सूर्य की किरण आती हों। (अत्र+अह) यहाँ ही जहाँ सूर्य की किरण अच्छी प्रकार आती-जाती हैं, वहाँ ही (उरुगायस्य) बहुतों-से गीयमान (वृष्णः) वर्षा देनेवाले सूर्य का (तत् परमम् पदम्) वह परमपद—किरणस्थान (भूरि) बहुत (अवभाति) शोभित होता है॥ ६ ॥

इस सूक्त में छह मन्त्र हैं। इनका अर्थ ईश्वरपक्ष में भी घटता है। विस्तार के भय से अर्थ नहीं किया, विद्वान् लोग ईश्वरपक्ष में भी लगा लेवें। आप लोग देखते हैं कि उरुगाय, उरुक्रम, त्रिपद आदि शब्द विष्णुसूक्त में आते हैं। अन्तिम षष्ठ मन्त्र में 'गौ' पद किरण

के लिए साक्षात् आया हुआ है और यह उपदेश होता है कि सूर्य की किरणें जहाँ हों वह स्थान अच्छा है। इन्हीं मन्त्रों से सायण आदि वामनावतार सिद्ध करते हैं और इसी 'गोपद' के कारण 'विष्णुलोक' को 'गोलोक' भी कहते हैं। एवमस्तु।

विष्णुसूक्त से और भी मन्त्र उद्धृत कहते हैं—

परो मात्रया तन्वा वृधान न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति।
उभे ते विद्म रजसी पृथिव्या विष्णो देव त्वं परमस्य वित्से॥ १॥

—ऋग्वेद मण्डल ७, सूक्त ९९, मन्त्र १

(परः+मात्रया) हे अपरिमित (तन्वा) किरणरूप शरीर से (वृधान) बढ़नेवाले (विष्णो) सूर्य! (ते) आपकी (महित्वम्) महिमा को (न+अन्वश्नुवन्ति) कोई नहीं व्याप्त कर सकता, अर्थात् कोई नहीं जान सकता। हे सूर्य! (ते) आपके (उभे) दोनों (रजसी) लोक (पृथिव्याः) पृथिवी से लेकर अन्तरिक्ष—ये जो दोनों लोक हैं, उनको हम लोग अच्छे प्रकार (विद्म) जानते हैं। (देव) हे देव! (त्वम्) आप ही (परमस्य) परम जो अन्य लोक-लोकान्तर हैं, उनके विषय में (वित्से) जानते हैं, अर्थात् ये दो लोक हम साधारण मनुष्यों के ज्ञान-गम्य हैं, इनके अतिरिक्त लोक-लोकान्तरों को तो सूर्यदेव ही जानता है। यहाँ पुरुषत्व का आरोप करके वर्णन है, जिसको अंग्रेज़ी में (Personification) कहते हैं, ऐसे वर्णन से कोई क्षति नहीं॥ १॥

न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप।
उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः॥ २॥

अर्थ—(विष्णो+देव) हे दानादिगुणयुक्त सूर्यदेव! (न+जायमानः) न तो विद्यमान ज्ञानी (न+जातः) और न जो हो चुके हैं, वे ज्ञानी (ते) आपकी (महिम्नः) महिमा के (परम्+अन्तम्) पर अन्त को (आप) पाते हैं। आपकी कौन-सी महिमा है, वह आगे कहते हैं—(ऋष्वम्) दर्शनीय (बृहन्तम्) महान् (नाकम्) द्युलोक को, अर्थात् आपके परितः स्थितः ग्रहों को (उद्+अस्तभ्नाः) आपने ऊपर ही रोक रक्खा है, जिससे वे गिर न जाएँ। इस प्रकार आप उनको पकड़े हुए हैं। यह आपकी महान् महिमा है और (पृथिव्याः) पृथिवी की (प्राचीम्+ककुभम्) प्राची दिशा को (दाधर्थ) धारण किये हुए हैं। यह उपलक्षणमात्र है। सम्पूर्ण पृथिवी को आप पकड़े हुए हैं॥ २॥

इरावती धेनुमती हि भूतं सूयवसिनी मनुषे दशस्या।
व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः॥ ३॥

अर्थ—ये द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों (मनुषे) मनुष्य के लिए (इरावती) अन्नादि पदार्थ देनेवाले हैं, पुनः (धेनुमती) गौ आदि पशुओं से युक्त हैं (सूयवसिनी) शोभन-शोभन पदार्थ देनेवाले हैं (दशस्या) सर्वदा कुछ-न-कुछ देनेवाले जो (भूतम्) भूत (हि) निश्चय होते हैं। ये (रोदसी) अवरोधन करनेवाले, अपनी ओर आकर्षण करनेवाले दोनों लोक हैं। (एते) इनको (विष्णो) हे सूर्य! आप (व्यस्तभ्नाः) पकड़े हुए हैं और (पृथिवीम्) पृथिवी को (अभितः) चारों ओर से (मयूखैः) किरणों से, अर्थात् आकर्षण शक्ति से (दाधर्थ) आप पकड़े हुए हैं।

संस्कृत् भाषा में 'मयूख' नाम किरण का है, यह अति प्रसिद्ध है। यहाँ किरण-पद से सूर्य की आकर्षण-शक्ति का ग्रहण है। इसी शक्ति से पृथिवी अपने स्थान पर भ्रमण करती हुई स्थित है। अन्यान्य कोई पदार्थ इसको धारण करनेवाले नहीं। इस वैदिक भाव को न समझकर सायण, महीधर आदि भाष्यकर्त्ताओं ने कैसा-कैसा अनर्थ किया है, वह देखिए। यहाँ सायण अर्थ करते हैं—

अपिच, पृथिवी प्रथितामिमां भूमिम्। अभितः सर्वत्र स्थितः मयूखैः। पर्वतैर्दाधर्थ धारितवानसि यथा न चलति तथा दृढीकृतवानित्यर्थः॥

महीधर लिखते हैं—

पृथिवीं मयूखैः स्वतेजोरूपैर्नानाजीवैर्वराहाद्यनेकावतारैर्वा अभितो दाधर्थ सर्वतो धारितवानसि।[1]

मयूख शब्द का अर्थ सायण 'पर्वत' करते हैं और समझते हैं कि भगवान् ने इस पृथिवी पर हिमालय आदि पर्वत स्थापित किये हैं, जिससे पृथिवी चलायमान हो नष्ट न हो जाए। हे विद्वानो! जिनको पृथिवी का आधार वा स्थिति ज्ञात नहीं है, वे वेदों का भाष्य क्या कर सकते हैं? प्रत्युत वेदों पर कलङ्क लगाते हैं। इसी प्रकार महीधर 'मयूख' शब्द का अर्थ 'नाना जीव' और वराहादि अनेक अवतार करते हैं। यह सब भ्रम इन भाष्यकारों को इसलिए हुआ है कि वे लोग आकर्षणविद्या से अपरिचित थे और पृथिवी तथा सूर्य के गुणों को नहीं जानते थे॥ ३॥

---

१. यजुः० ५।१६

त्रिर्देवः पृथिवीमेष एतां वि चक्रमे शतर्चसं महित्वा।
प्र विष्णुरस्तु तवसस्तवीयान् त्वेषं ह्यस्य स्थविरस्य नाम॥ ३॥
वि चक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन्।
ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास उरुक्षितिं सुजनिमा चकार॥ ४॥

—ऋ० ७/१००॥

त्रीण्येक उरुगायो वि चक्रमे यत्र देवासो मदन्ति।

—ऋ० ८/२९/७

इत्यादि मन्त्रों में भी इसी त्रिविक्रम सूर्य का वर्णन है।

अब आगे ऐसे मन्त्र लिखते हैं जहाँ सायणादि को भी विष्णु शब्द का अर्थ सूर्य करना पड़ा है। यथा—

चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतीँरवीविपत्।
बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवाकुमारः प्रत्येत्याहवम्॥

—ऋ० १/१५५/६

अर्थ—यह आदित्यात्मा विष्णु (चतुर्भिः+साकम्) चार के साथ (नवतिम्+च) नव्वे कालावयवों को (नामभिः) अपनी प्रेरणा-विशेष से (वृत्तम्+न+चक्रम्) वर्तुलकार=गोलाकार चक्र के समान (व्यतीन्) विविध प्रकार से (अवीविपत्) घुमाते हुए स्थिति है। आगे सायण चौरान्नवे का हिसाब इस प्रकार लगाते हैं। एक संवत्सर, दो अयन (उत्तरायण, दक्षिणायण), पाँच ऋतु, द्वादश मास, चतुर्विंशति २४ अर्धमास, तीस अहोरात्र, आठ प्रहर और द्वादश लग्न—ये सब मिलकर ९४ होते हैं। आगे सायण शङ्का करते हैं कि आदित्य तो अन्य ग्रहों के समान स्वयं भ्रमण करता है, फिर दूसरों को कैसे घुमा रहा है। इसके उत्तर में कहते हैं कि यह दोष नहीं, क्योंकि सूर्य का दूसरा रूप ध्रुव विष्णु है जो सबको घुमा रहे हैं। अथवा सूर्य के ही भ्रमण के अधीन अन्यों का भ्रमण है। इस हेतु कहा गया है कि सूर्य घुमा रहे हैं। इस प्रकार कालात्मक विष्णु (बृहच्छरीरः) बड़े शरीरवाले (ऋक्वभिः) स्तुतियों से (विमिमानः) सबको यथा-स्थान में स्थापित करते हुए स्थित हैं, पुनः (युवा) नित्य तरुण इसी हेतु (अकुमारः) अनल्प वह विष्णु (आहवम्) यज्ञदेश में (प्रत्येति) आते हैं।

यह सायणाचार्य के भाष्य का अभिप्राय है। यहाँ 'विष्णु' का अर्थ कालात्मक आदित्य किया है। विवश होकर सायण को यह

अर्थ करना पड़ा है, क्योंकि यहाँ ९४ चौरान्नवे का वर्णन है। जो सूर्य में ही घटते हैं। यहाँ सायण ने विष्णु को सूर्य का मूर्त्यन्तर माना है। यहाँ सायण ने 'चर्तुभिः साकं नवतिम्' इस पद की व्याख्या में क्या ही अशुद्धि की है। ९४ चौरान्नवे संख्या गिनाने के लिए क्या हिसाब लगाया है। यहाँ इस प्रकार अर्थ हो सकता है यथा—९०×४=३६० नव्वे को चार से गुणा करने पर ३६० होता है। इतने वर्ष में दिन होते हैं। (यद्यपि ३६४ के करीब वर्ष में दिन होते हैं तथापि यहाँ जो ३६० कहे गये हैं इसका कारण अधिक मास है वेद में एक अधिक मास भी आया है, जिससे उसकी पूर्ति हो जाती है) इनको ही मानो सूर्य घुमा रहे हैं। पुनः-पुनः वे ही ऋतु, वे ही दिन आते रहते हैं। यह इसका विस्पष्ट भाव प्रतीत होता है। चतुर्भिःसाकम्+नवतिम् का अर्थ है कि ४×९० को गुणा करके जो दिन की संख्या आती है, उन्हें सूर्य घुमा रहे हैं। अथवा प्रधानतया ९४ ग्रहों को अपने साथ सूर्य घुमा रहे हैं। यहाँ पर सूर्य को 'युवा' और 'अकुमार' कहा है।

त्वां विष्णुर्बृहन् क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः।
त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम्। —ऋ० ८।१५।९

सायणकृत अर्थ—हे इन्द्र! (बृहन्) बड़े और (क्षयः) निवास के कारण (विष्णुः+मित्रः+वरुणः) विष्णु, मित्र और वरुण (त्वाम्+अनु) आपके पीछे (मारुतम्+शर्धम्) मरुत्सम्बन्धी बल को (मदति) बढ़ता है, मदोन्मत्त होता है। यहाँ विष्णु इन्द्र की स्तुति करता है। वह विष्णु कौन हैं?

उत नः सिन्धुरपां तन्मरुतस्तदश्विना।
इन्द्रो विष्णुर्मीढ्वांसः सजोषसः॥ —ऋ० ८।२५।१४

अर्थ—(उत) और (अपां+सिन्धुः) जल देनेवाला मेघ (नः) हमारे (तत्) उस धन की रक्षा करे। (मरुतः) मरुद्गण (तत्) उस धन की रक्षा करें (अश्विना) अश्विदेव रक्षा करें (इन्द्रः+विष्णुः) इन्द्र और विष्णु और (मीढ्वांसः) सब कामों के सेचन करनेवाले सकल देव (सजोषसः) सङ्गत हों, अर्थात् मिलकर धन की रक्षा करें।

यह सायण का अर्थ है। यहाँ सब देवों के साथ धन रक्षा के लिए विष्णु प्रार्थित हुआ है। क्या एक ही विष्णु धन की रक्षा करने में असमर्थ है?

इन्द्र, विष्णु और अख्यायिका

इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्।
शतं वर्चिनः सहस्त्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान्॥

—ऋ० ७/९९/५

सायणकृतार्थानुवादः—(इन्द्राविष्णू) हे इन्द्र और विष्णो! आप दोनों ने (शम्बरस्य) शम्बर नामक असुर के (दृंहिताः) दृढीकृत (नव+नवतिं+च) ९९ (पुरः) नगर (श्नथिष्टम्) नष्ट कर दिये और साथ ही (शतम्+सहस्त्रम्+च) सौ और सहस्त्र (वर्चिनः+असुरस्य) तेजयुक्त असुर के (अप्रति+वीरान्) युद्ध से पीछे न हटनेवाले वीरों को (हथः) छिन्न-भिन्न कर मार दिया।

इसी मन्त्र के समान एक अन्य मन्त्र यह है—

अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः।
यो वर्चिनः शतमिन्द्रः सहस्त्रमपावपद् भरता सोममस्मै॥

—ऋ० २/१४/६

हे (अध्वर्यवः) अध्वर्यु! (यः) जिस इन्द्र ने (शम्बरस्य) शम्बर नामक मायावी असुर के (पूर्वीः) पुरातन (शतं+पुरः) एक सौ नगर (अश्मनेव) प्रस्तर के समान वज्र से (बिभेद) तोड़ डाले और (यः) जिस (इन्द्रः) इन्द्र ने (वर्चिनः) तेजयुक्त अथवा वर्चीनामक असुर के (शतम्+सहस्त्रम्) सौ और सहस्त्र वीर (अपावपत्) पृथिवी पर मार गिराये, (अस्मै) इस इन्द्र को (सोमम्+भरत) सोम दो।

यहाँ आप लोग देखते हैं कि इन्द्र और विष्णु मिलकर युद्ध करते हैं, परन्तु इन्द्र प्रधान और विष्णु गौण हैं, क्योंकि शम्बर के नगरों को इन्द्र अकेला ही नष्ट करनेवाला है। जैसाकि द्वितीय मन्त्र में वर्णित है। एवमस्तु।

यहाँ पर भी सायण ने अर्थ में बड़ी अशुद्धि की है। हम आप लोगों से कह चुके हैं कि 'शम्बर' नाम मेघ का है। निघण्टु १।१० देखिए और ९९ यह संख्या समस्तार्थक है, अर्थात् सम्पूर्णता वाचक है, क्योंकि ९ से अधिक अङ्क नहीं होते। ९९ में भी नौ ही नौ हैं। इस हेतु शत सहस्त्र पद आये हैं जो अनन्त वाचक हैं, अर्थात् सब। इन्द्र नाम यहाँ वायु का है और विष्णु नाम सूर्य का है। वायु और सूर्य दोनों मिलकर शम्बरासुर, अर्थात् मेघ देवता के निखिल नगरों को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। वायु से विशेषकर मेघ छिन्न-भिन्न

हो जाता है, अतः वायु वाचक इन्द्र की यहाँ प्रधानता कही गई है। इन्द्र और विष्णु ये दोनों शब्द बहुधा साथ-साथ आये हैं। ऋग्वेद मण्डल ६ सूक्त ६९ देखिए। इस सूक्त में ८ मन्त्र हैं, आठों मन्त्रों में इन्द्र और विष्णु शब्द आया है। यथा—

१. इन्द्राविष्णू अपसस्पारे अस्य।
२. इन्द्राविष्णू कलशा सोमधाना।
३. इन्द्राविष्णू मदपती मदानाम्।
४. इन्द्राविष्णू सधमादो वहन्तु।
५. इन्द्राविष्णू तत्पनयाय्यम्।
६. इन्द्राविष्णू हविषा वावृधाना।
७. इन्द्राविष्णू पिबतं मध्वो अस्य सोमस्य।
८. इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम्।

विश्वेत्ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वेषितः।
शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम्॥

—ऋ० ८। सू० ७७। मन्त्र १०

सायणाकृतार्थानुवादः—यहाँ सायण कहते हैं निरुक्तकार और ऐतिहासिक के मत के भेद से इस ऋचा की योजना, अर्थात् अर्थ दो प्रकार से होता है। निरुक्त (निरुक्तकार) के पक्ष में यह अर्थ है—हे इन्द्र! (ता) जो जल आपको उत्पन्न करना उचित था उस जल को (विष्णुः) व्यापनशील आदित्य ही (आभरत्) लोगों को दे रहे हैं, वह विष्णु कैसा है? (उरुक्रमः) बहुत गतिवाला। हे इन्द्र! (त्वेषितः) आपसे प्रेरित हो, वह विष्णु केवल जल ही नहीं लाते हैं, किन्तु (शतम्+महिषान्) सैकड़ों पशुओं को लाते हैं। सायण कहते हैं कि यहाँ महिष शब्द गवादिक का उपलक्षक है। अथवा शतशब्द अपरिमित वाची है और 'महिष' नाम 'महत्' का है, अर्थात् यज्ञ का नाम यहाँ 'महिष' है, अर्थात् यजमान को वह आदित्य असंख्य यज्ञ देते हैं और (क्षीरपाकम्) पायस=खीर देता है। 'क्षीरपाक' यह पुरोडाशादि का उपलक्षक है, (ओदनम्) सबके लिए वृष्टिदान द्वारा ओदन देते हैं और (इन्द्रः) इन्द्र (वराहम्) जलपूर्ण मेघ का हनन करते हैं। वह मेघ कैसा है (एमुषम्) जल को चुरानेवाला। यह निरुक्तपक्ष का अर्थ हुआ। इस पक्ष में विष्णु का आदित्य अर्थ सायण ने किया है और वराह शब्द का 'मेघ' अर्थ किया है।

अब ऐतिहासिक पक्ष का अर्थ करते हैं। चरक-ब्राह्मण में

इतिहास उक्त है कि विष्णु, जो यज्ञ इसने देवताओं से अपने आत्मा को छिपा लिया। उसको अन्य देवता नहीं जान सके, परन्तु इन्द्र ने उसको जान लिया। उसने इन्द्र से कहा कि आप कौन हैं? इन्द्र ने उत्तर दिया कि मैं असुरों के दुर्ग का हनन करनेवाला हूँ। परन्तु आप कौन हैं? उसने कहा कि मैं दुर्गादाहर्ता हूँ। यदि आप असुरों के दुर्ग हनन करनेवाले हैं तो यह धन का चोर वराहासुर प्रस्तरमयी इक्कीस पुरियों के पार में वास करता है। वहाँ असुरों का बहुत अच्छा धन है। उसको आप मारें। इन्द्र ने उसकी सब नगरियों को भेदकर उसका हृदय तोड़ डाला और उस समय जो कुछ वहाँ था, विष्णु उसे ले-आये। इतना इतिहास कह अब आगे अर्थ कहते हैं—हे इन्द्र! (त्वेषितः) आपसे प्रेरित (विष्णुः) यज्ञरूपी विष्णु, अर्थात् जब विष्णु ने यह कहा कि "मैं दुर्गादाहर्ता" हूँ तब आपने कहा कि यदि आप दुर्गादाहर्ता हैं तो उसके धन ले-आवें। इस प्रकार आपसे प्रेरित वह यज्ञरूपी विष्णु (उरुक्रमः) शीघ्र गतिमान् होकर (विश्वा+इत्+ता) उन सब धनों को (आभरत्) ले-आये। किन-किन पदार्थों को ले-आये वह आगे कहते हैं (शतम्+महिषान्) अनेक प्रशस्त पदार्थों को अथवा उस असुर के वाहनरूप महिषों को ले-आये और (क्षीरपाकम्+ओदनम्) पके हुए ओदन को भी। (इन्द्रः) इन्द्र ने (एमुषम्) धन के चुरानेवाले (वराहम्) वराहरूपी असुर का हृदय में ताड़न किया।

यह सायणभाष्य का अर्थ है। यहाँ सायण द्वितीय ऋचा देकर इस इतिहास की पूर्ति करते हैं, वह ऋचा यह है।

अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना।
मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान्विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता॥

—ऋ० १।६१।७

सायणकृतार्थानुवादः—(इत्+उ) निश्चय (मातुः) वृष्टि द्वारा सकल जगत् के निर्माण करनेवाले (महः) महान् (अस्य) इस यज्ञ के सम्बन्धी (सवनेषु) प्रातःसवनादि तीनों सवनों में (पितुम्) सोमलक्षण अन्न को (सद्यः) तत्काल (पपिवान्) ज्यों ही अग्नि में डाला गया त्यों ही अग्नि ने उसका पान कर लिया (चारु) अच्छे-अच्छे (अन्ना) धाना, करम्भादि हविर्लक्षणरूपान्न खाया और (विष्णुः) जगत् में व्यापक विष्णु (पचतम्) असुर के परिपक्व धन को (मुषायत्) चोरी कर ले-आये (सहीयान्) अतिशय बलवान्

(अद्रिमस्ता) वज्र के फेंकनेवाले इन्द्र ने (तिरः) प्राप्त होकर (वराह) मेघ को ताड़ित किया अथवा विष्णु जो स्तुत्य दिवसात्मक यज्ञ है, क्योंकि यज्ञ ही विष्णुरूप होकर देवताओं से छिप गया था वह विष्णु असुर के परिपक्व धन को चुराकर ले-आया। तदनन्तर दीक्षोपसदात्मक सात दिनों के पर में विद्यमान् जो अद्रि उसका नाश करनेवाले इन्द्र ने सातों दुर्गों के निकट जा उत्कृष्ट दिवसरूप यज्ञ को ताड़ित किया। यहाँ पर सायणभाष्य विस्पष्ट नहीं है, क्योंकि विष्णुकृत असुरों का धन हरण करना और वराहरूप मेघ का वा दिवस का वा यज्ञ का इन्द्रकृत हनन होना इन दोनों में कुछ सम्बन्ध नहीं हैं। इन दोनों ऋचाओं से सायण ने सिद्ध किया है कि एक असुर था, जिसको इन्द्र ने मारा और उसका धन विष्णु ले-आये, परन्तु सायण ने इनके अर्थ करने में बड़ी असावधानता दिखाई है, कभी वराहशब्द का अर्थ मेघ और कभी उत्कृष्ट दिवसरूप यज्ञ करते हैं, इसी प्रकार विष्णु आदि शब्द के अर्थ करने में भी अशुद्धि की है। यथार्थ में इन मन्त्रों का अर्थ सायण ने नहीं समझा। यहाँ विष्णु का अर्थ सूर्य और इन्द्र का अर्थ वायु है और वराह तथा ओदनादि शब्द मेघ वाचक हैं। सूर्य की किरणों और वायु के द्वारा मेघ उत्पन्न होते हैं। जब मेघ बन जाता है तब इन्द्र, अर्थात् वायु मेघ को छिन्न-भिन्न कर देता है। यही इन्द्रकृत वराहहनन है।

सायण ने द्वितीय मन्त्र को जो इसके साथ मिलाया है, वह ठीक नहीं है, वहाँ विष्णु शब्द का अर्थ यज्ञ है, उससे जगत् में विशेष आनन्द प्राप्त होता है। यही विष्णुकृत अन्न का हरण है, परन्तु यह अन्न का हरण जब तक वायुदेवता कृपा न करे और मेघ को छिन्न-भिन्नकर न बरसावे तब तक नहीं हो सकता। यही इन्द्रकृत वराहहनन है। वराह नाम मेघ का है, इसमें निघण्टु और निरुक्त द्रष्टव्य हैं।

अत्र निरुक्तम्[1] वराहो मेघो भवति वराहारः ''वरमाहारमाहार्षीः'' इति च ब्राह्मणम्।

अत्र सायणकृतार्थः। वरमुदकम् आहारो यस्य यद्वा वरमाहरतीति वराहारः सन् पृषोदरादित्वात् वराह इत्युच्यते यज्ञपक्षे तु वरं च तदहो वराहः राजाहः सखिभ्य इति समासात्तटच् प्रत्ययः।

निघण्टु में मेघ नामों में 'वराह' शब्द आया है। वराह=शब्द

१. निरुक्त ५।१।४

का अर्थ यास्काचार्य अपने निरुक्त में ऐसा करते हैं—'वराह' नाम मेघ का है, क्योंकि वर=जल। आहार=भोजन, खाद्य वस्तु। जिसका भोजन जल है उसे 'वराह' कहते हैं। सायण ने व्याकरणानुसार 'वराह' शब्द की सिद्धि की है। सायण और भी कहते हैं कि 'वराह' नाम यज्ञ का भी है, क्योंकि वर=उत्तम। अहः=दिन। जो उत्तम दिन हो उसे 'वराह' कहते हैं। जिस दिन यज्ञ होता है वह सबसे उत्तम दिन है, अतः यज्ञ का नाम वराह है। इस प्रकार सायण आदि भाष्यकार कभी-कभी साधु-शब्दार्थ करते हुए भी, क्योंकर भ्रम में पड़ जाते हैं, यह नहीं मालूम। पुनः—

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि।
मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ॥

—ऋ० ७/१००/६

इस ऋचा के व्याख्यान में सायण लिखते हैं—

पुरा खलु विष्णुः स्वं रूपं परित्यज्य कृत्रिमरूपान्तरं धारयन् संग्रामे वसिष्ठस्य सहाय्यं चकार॥ तं जानन् ऋषिरनया प्रत्याचष्टे॥

पूर्वकाल में अपना रूप त्याग कृत्रिम, दूसरा रूप धारण कर विष्णु भगवान् ने संग्राम में वसिष्ठजी की सहायता की। इसको जानते हुए ऋषि ने इस ऋचा से कहा है।

यहाँ हमें सायण की बुद्धि पर बहुत शोक होता है। इस अवस्था में वेद नित्य कैसे रहा? एवमस्तु। यह ऋचा निरुक्त में भी आई है। यास्काचार्य कहते हैं—

शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः।
कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवतीत्यौपमन्यवः॥[१]

विष्णु के दो नाम हैं एक 'शिपिविष्ट' और दूसरा 'विष्णु'। 'शिपिविष्ट' यह नाम निन्दा सूचक है, ऐसा औपमन्वय आचार्य मानते हैं। इतना कहकर पुनः यास्क अपना मत प्रकाशित करते हैं। 'अपि वा प्रशंसायामैवाभिप्रेतं स्यात्' अथवा 'शिपिविष्ट' नाम प्रशंसा सूचक ही है। यहाँ इस शब्द के दो अर्थ इस प्रकार हैं।

शेप इव निर्वेष्टितोऽस्मीत्यप्रतिपन्नरश्मिः।

अथवा—**शिपिविष्टोऽस्मीति प्रतिपन्नरश्मिः।**

शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवति।[२]

---

१. निरुक्त ५.१.८ २. निरुक्त ५.१.८

उदयकाल में सूर्य अच्छे प्रकार शोभित नहीं होता है। समस्त किरण लुप्त प्रतीत होते हैं और रक्त भासित होने से कुरूप-सा दीखता है, अर्थात् अपनी किरणों से विरहित होने के कारण 'शिपिविष्ट' यह नाम निन्दासूचक है अथवा शिपि=किरण उनसे जो सम्यक् आविष्ट=सम्यक् परिपूर्ण वह शिपिविष्ट। इस पक्ष में प्रशंसासूचक है, अर्थात् एक पक्ष में 'शेप' (कुरूप वस्तु) के समान जो भासित हो। द्वितीयपक्ष में शिपि [किरण] से आविष्ट हो। इस प्रकार इसके दो अर्थ होते हैं।

अथ मन्त्रार्थ—(विष्णो) हे सूर्य! (ते) आपको (किम्) क्या [परिचक्ष्यम्+भूत्] प्रख्यात=प्रकाशित करना है अथवा (ते) आप (किम्) क्या यह (परिचक्ष्यम्) कह रहे हैं (यत्) जो आप (प्र+ववक्षे) कहते हैं कि मैं (शिपिविष्टः+अस्मि) शिपिविष्ट हूँ। हे सूर्य! (अस्मत्) हम लोगों से आप (एतत्) इस (वर्पः) रूप को (मा) नहीं (अप+गूह) छिपावें (यत्) जिस रूप को (अन्यरूपः) रूपान्तर होकर=अन्य रूप को धारण कर (समिथे) आकाश में (यत्+बभूव=प्राप्नोषि) आप प्राप्त होते हैं, उस रूप को आप हम लोगों से न छिपावें।

इस मन्त्र का भाव बहुत विस्पष्ट है। हे आर्यसन्तानो! सोचो! प्रातःकाल के सूर्य का यह वर्णन है। मानो प्रातःकाल का सूर्य कहता है कि मैं 'शिपिविष्ट' हूँ, अर्थात् मुझमें किरण-प्रकाश नहीं है, आप लोगों को कैसे प्रकाशित करूँ। इसपर सब देव मिलकर कहते हैं कि आप यह क्या कह रहे हैं आप तो 'शिपिविष्ट' हैं, अर्थात् आप किरणों से शोभित हैं। मान भी लेवें कि आपमें इस समय किरण नहीं हैं तथापि हे विष्णो! जब आप प्रातःकालिक अपने 'शिपिविष्ट रूप' को त्याग 'विष्णुरूप' अर्थात् व्यापक रूप धारण करते हैं तब आप उस रूप से हम देवों की रक्षा कर सकते हैं। इस व्यापक-विष्णुरूप को मत छिपावें। इस वर्णन से विस्पष्टतया प्रतीत होता है कि प्रातःकालिक सूर्य को 'शिपिविष्ट' कहते हैं और जब इसकी किरण पृथिवी पर सर्वत्र फैल जाती हैं तब वह 'विष्णु' कहलाता है। अब आगे कहते हैं कि आपका जो प्रातःकालिक 'शिपिविष्ट' रूप है, वह भी प्रशंसनीय है, मैं उसी की प्रशंसा करता हूँ।

प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्।
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य रजसः पराके॥ ५॥

अर्थ—यास्काचार्य ने प्रथम छठे मन्त्र का अर्थ करके तब पञ्चम मन्त्र का अर्थ किया है। वही क्रम मैंने भी रक्खा है। (शिपिविष्ट) हे किरणों से युक्त सूर्य! (ते) आपके (तत्+नाम) उस प्रसिद्ध 'शिविविष्ट' नाम की (प्र+शंसामि) प्रशंसा करता हूँ, क्योंकि (वयुनानि+विद्वान्) आपके सम्बन्ध में जितने ज्ञान हैं, अर्थात् आपको जानने के लिए जितनी विद्याएँ हैं, मैं उन सबको जाननेवाला हूँ, क्योंकि (अर्यः) मैं सब विद्याओं का स्वामी हूँ तथापि हे सूर्य! आप महान् हैं, मैं लघु हूँ। आगे कहते हैं—(तवसम्) अति महान् (त्वा) आपकी (अतव्यान्) लघु मैं (गृणामि) स्तुति करता हूँ। आप कैसे हैं (अस्य+रजसः) इस पृथिवी के (पराके) बहुत दूर (क्षयन्तम्) स्थित हैं॥५॥

इसका भाव यह है कि सूर्य इस पृथिवी से बहुत दूर है इस हेतु इसके सम्बन्ध में कुछ जानना अति कठिन है, परन्तु ऋषि लोग इसे अच्छे प्रकार जानते हैं। इस हेतु प्रातःकालिक सूर्य को निन्दनीय अथवा किरणरहित नहीं समझते हैं, अज्ञानी लोग अवश्य ही प्रातःकालिक सूर्य को किरणरहित ही समझते हैं, परन्तु ज्ञानी लोग नहीं। वे समझते हैं कि पृथिवी के अवरोध (रुकावट) से सूर्य इस प्रकार भासित होता है। यथार्थ में सूर्य ऐसा नहीं है। इस हेतु सर्वज्ञ ऋषि कहते हैं कि मैं प्रातःकालिक सूर्य की प्रशंसा करता हूँ, अर्थात् मैं इसको समझता हूँ, अन्य लोग नहीं समझ रहे हैं। यहाँ सौरविद्या का वर्णन है।

यज्ञवाचक विष्णुशब्द

दिवि विष्णुर्व्यक्रंꣳस्त जागतेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंꣳस्त त्रैष्टुभेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंꣳस्त गायत्रेण च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठायाऽअगन्म स्वः सं ज्योतिषाभूम॥

—*यजुः० २ / २५*

(विष्णुः) यज्ञ (जागतेन+छन्दसा) जगती छन्द से अनुष्ठीयमान हो (जिसमें जगती छन्द पढ़े गये हों ऐसा यज्ञ) (दिवि) द्युलोक को (व्यक्रंस्त) प्राप्त होता है (ततः) उससे, अर्थात् यज्ञ के फैल जाने से (निर्भक्तः) दुष्ट पदार्थ वा दूषित वायु आदि निकल जाता

है। कौन निकल जाता है, यह आगे कहते हैं—(यः) जो दुष्ट वायु आदि वस्तु (अस्मान्) हम जीवों से (द्वेष्टि) द्वेष रखती हैं और (वयम्+च) हम लोग (यम्) जिससे (द्विष्मः) द्वेष रखते हैं, ऐसी वस्तु उस यज्ञ के द्वारा विनष्ट हो जाती है, अर्थात् अग्नि में प्रक्षिप्त जो रोगनाशक, पुष्टिप्रदायक और जलादिसंशोधक हवनसामग्री है वह भस्म होकर वायु द्वारा बहुत दूर तक पहुँचती है और वहाँ-वहाँ पहुँचकर रोगजनक वस्तु को नष्ट कर देती है। इस हेतु वेद में कहा जाता है जो वस्तु हम लोगों से द्वेष करती है एवं जिससे हम लोग द्वेष करते हैं वह वस्तु यज्ञ के द्वारा नष्ट हो जाती है। आगे भी यही भाव समझना चाहिए। (विष्णुः) यज्ञ (त्रैष्टुभेन+छन्दसा) त्रिष्टुप्छन्दसे अनुष्ठीयमान हो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षलोक को (व्यक्रंस्त) प्राप्त होता है। (ततः+निर्भक्तः) पूर्ववत्। (विष्णुः) यज्ञ (गायत्रेण+छन्दसा) गायत्री छन्द से अनुष्ठीयमान हो (पृथिव्याम्) पृथिवीलोक में (व्यक्रंस्त) फैल जाता है। (ततः+निर्भक्तः) पूर्ववत्। (अस्मात्+अन्नात्) जगत् में प्रत्यक्षतया दृश्यमान जो अन्न, अर्थात् खाद्य सामग्री है। जाति में यहाँ एक वचन है, उसके निमित्त यह यज्ञानुष्ठान है केवल इसी के लिए नहीं, किन्तु (अस्यै+प्रतिष्ठायै) इस प्रत्यक्ष प्रतिष्ठा के लिए भी यज्ञानुष्ठान है। यज्ञ से मनुष्य (स्वः) सुख (अगन्म) पाते हैं एवं (ज्योतिषा) ईश्वरीयज्योति=प्रकाश से (सम्+अभूम) सङ्गत होते हैं, अर्थात् यज्ञ से ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों कार्य सम्पन्न होते हैं।

इस मन्त्र में विष्णुशब्द का अर्थ महीधर 'विष्णुर्यज्ञपुरुषः' यज्ञ ही करते हैं। हमारे आचार्य श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीजी भी 'यो वेवेष्टि व्याप्नोति अन्तरिक्षस्थवाय्वादिपदार्थान् स यज्ञः। 'यज्ञो वै विष्णुः' शतपथकार भी यज्ञ ही अर्थ करते हैं। एक अन्य मन्त्र भी ऐसा ही है, वह भी सुनिए—

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्दऽ आरोह पृथिवीमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्दऽआरोहान्तरिक्षमनु विक्रमस्व विष्णोःक्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्दऽआरोह दिवमनु विक्रमस्व। विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्ताऽऽनुष्टुभं छन्दऽ आरोह दिशोऽनु विक्रमस्व॥ —*यजुः० १२।५*

अर्थ—यहाँ यज्ञ के फैलने का वर्णन है। यज्ञ का जो क्रम, अर्थात् यज्ञ की सामग्री का जो चारों ओर गमन है, उसे सम्बोधन करके कहते हैं—आप (विष्णुः+क्रमः+असि) यज्ञ के क्रम हैं, इसी

हेतु (सपत्नहा) जीव के आरोग्य का नाश करनेवाले जो शत्रु हैं उन्हें भी आप नष्ट करनेवाले हैं। हे यज्ञक्रम! प्रथम आप (गायत्रम्+छन्दः+आरोह) गायत्री छन्द को प्राप्त करें (अनु) तत्पश्चात् (पृथिवीम्) पृथिवी पर (विक्रमस्व) फैलें। आप (विष्णोः+क्रमः+असि) यज्ञ के क्रम हैं, इसी हेतु (अभिमातिहा) घातक पाप को नष्ट करनेवाले हैं, (त्रैष्टुभं+छन्दः+आरोह) आप त्रिष्टुभ् छन्द को प्राप्त करें (अनु) पश्चात् (अन्तरिक्षम्+विक्रमस्व) अन्तरिक्षलोक में व्याप्त होवें। पुनः (विष्णोः+क्रमः+असि) विष्णु के आप क्रम हैं, इसी हेतु (अरातीयतः+हन्ता) शत्रु के हनन करनेवाले हैं (जागतम्+छन्दः+आरोह) जगती छन्द को प्राप्त करें (अनु) पश्चात् (दिवम्) द्युलोक तक (विक्रमस्व) फैल जाएँ। पुनः (विष्णोः+क्रमः+असि) यज्ञ के आप क्रम हैं, इसी हेतु (शत्रूयतः) शत्रुओं के (हन्ता) नाश करनेवाले हैं (अनुष्टुभं+छन्दः+आरोह) अनुष्टुभ् छन्द को प्राप्त करें। (अनु) तत्पश्चात् (दिशः) सब दिशाओं में (विक्रमस्व) फैल जाएँ।

यह मन्त्र विद्वान् पर भी घटता है, क्योंकि विद्वान् भी विष्णु अर्थात् सर्वव्यापक ब्रह्म के क्रम अर्थात् पराक्रम=प्रताप स्वरूप हैं, उसके तत्त्ववित् हैं। वे गायत्री आदि छन्दों से निःसृत अर्थ को जान विविध यन्त्रादि प्रस्तुत कर पृथिवी से लेकर द्युलोकपर्यन्त गमन कर सकते हैं॥५॥

इन दोनों मन्त्रों में एक रहस्य यह है। शतपथ में कहा गया है—

गायत्री वै प्रातःसवनं वहति। त्रिष्टुप् माध्यन्दिनꣳसवनम्। जगती तृतीयसवनम्॥ *—शत० कां० ४/२*[1]

गायत्रं वै प्रातःसवनम्। त्रैष्टुप् माध्यन्दिनꣳसवनम्। जागतं तृतीयसवनम्॥ *—शत० का०*[2]

प्रतिदिन तीन सवन (यज्ञ) होते हैं। प्रातःसवन, माध्यन्दिन-सवन और तृतीयसवन। प्रातःकाल के सवन में मुख्यतया गायत्री छन्द के मन्त्र पढ़े जाते हैं और माध्यन्दिन सवन में त्रिष्टुप् छन्द के मन्त्र और तृतीयसवन में जगती छन्द के मन्त्र पठित होते हैं। यह यज्ञ का एक साधारण नियम है। यह नियम ईश्वरीय आज्ञानुकूल ही है। 'जगती छन्द के साथ यज्ञ द्युलोक को प्राप्त होता है,' यह

---

१. शतपथ० ४।२।५।२०

२. शतपथ० ४।१।१।८, १०, १२

तृतीय सवन का वर्णन है। तृतीय सवन में जगती छन्द के मन्त्र पढ़े जाते हैं। यह द्युलोकस्थ पदार्थों के शोधन के लिए होता है। पुनः मन्त्र कहता है कि 'त्रिष्टुप् छन्द से यज्ञ अन्तरिक्ष को प्राप्त होता है।' यह माध्यन्दिन सवन का वर्णन है, जिसमें त्रिष्टुप् छन्द के मन्त्र पढ़े जाते हैं और यह अन्तरिक्षस्थ पदार्थों के शोधन के लिए होता है। पुनः मन्त्र कहता है कि 'गायत्री छन्द से यज्ञ पृथिवी में फैलता है' यह प्रातःसवन का वर्णन है। इसमें गायत्री छन्द के मन्त्र पढ़े जाते हैं। यह पृथिवीस्थ पदार्थों के शोधन के लिए होता है।

द्वितीय मन्त्र (विष्णोः+क्रमोसि) का भी भाव समान ही है। इन दोनों मन्त्रों से विस्पष्ट है कि विष्णु नाम यज्ञ का है। शतपथब्राह्मण में विष्णुक्रम का वर्णन है, वहाँ कहा गया है कि 'विष्णु' नाम यज्ञ का है। इस प्रकार वेदों के बहुत स्थलों में विष्णु शब्द यज्ञार्थ में प्रयुक्त हुआ है। हे विद्वानो! यदि सब प्रयोग यहाँ दरसावें तो ग्रन्थ का बहुत विस्तार हो जाएगा। हमने आप लोगों को बहुत-से मन्त्रों का अर्थ सुनाया। इसमें सन्देह नहीं कि विष्णु-सम्बन्धी मन्त्र बहुत हैं, जिनका अर्थ नहीं किया। आप लोग स्वयं प्रकरणानुकूल विचार लेंगे, परन्तु आप लोग निश्चय जानें कि वामनावतार की कथा से इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

ब्राह्मणग्रन्थों में भी वामन की चर्चा आई है, संक्षेप से उसे भी सुना देना हम उचित समझते हैं।

देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततो देवा अनुव्यमिवासुरथहासुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति॥ १॥

ते होचुः हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै तां विभज्योपजीवामेति। तामौक्ष्णैश्चर्मभिः पश्चात् प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः॥ २॥

तद्वै देवा शुश्रुवुः। विभजन्ते ह वा इमामसुराः पृथिवीं प्रेत तदेष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते के ततः स्याम यदस्यै न भजेमहीति ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः॥ ३॥ —*शत० कां० १।२*[1]

अर्थ—निश्चय, देव और असुर दोनों ही प्रजापति के सन्तान थे और वे दोनों अपनी-अपनी श्रेष्ठता के लिए सदा स्पर्धा किया करते थे। एक समय, देवगण क्लेशित-से हो गये। असुरों ने विचार किया कि निश्चय ही यह सम्पूर्ण भुवन हम लोगों का है॥ १॥

---

१. शत० १।२।५।१-३

इस हेतु वे परस्पर बोले कि हे भाइयो! आते जाओ, हम लोग मिलकर इस पृथिवी का विभाग करें और इसका विभाग कर जीवें। यह सम्मति करके उन्होंने बैल के चर्म से पृथिवी का पश्चिम से पूर्वतक विभाग करना आरम्भ किया॥ २॥

देवगणों ने यह सुन लिया। वे परस्पर बोल उठे कि इस पृथिवी को असुर लोग बाँट रहे हैं। आओ भाई! हम लोग भी वहाँ चलें जहाँ असुर लोग पृथिवी को बाँट रहे हैं। हम लोग क्या होंगे यदि इस पृथिवी में भाग नहीं पाएँगे। वे यज्ञस्वरूप विष्णु को आगे कर वहाँ चले।

ते होचुः। अनु नोऽस्यां पृथिव्यामा भजतास्त्वेव नोऽप्यस्यां भाग इति। ते हासुरा असूयन्त इवोचुर्यावदेवैष विष्णोरभिशेते तावद्वो दद्म इति॥ ४॥

वामनो ह विष्णुरास। तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नोऽदुर्ये नो यज्ञसम्मितमदुरिति॥ ५॥

ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य। च्छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन्। गायत्रेण त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामीति दक्षिणतस्त्रैष्टुभेन त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामीति पश्चाज्जागतेन त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामीत्युत्तरतः॥ ६॥

तं च्छन्दोभिरभितः प्रतिगृह्य। अग्निं पुरस्तात्समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तेनेमाᳬं सर्वां पृथिवीᳬंसमविन्दन्त तद्यदनेनेमाᳬं सर्वाᳬंसमविन्दत तस्माद्वेदिर्नाम तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवीत्येतया हीमाᳬंसर्वाᳬंसमविन्दन्तैवᳬंह वा इमाᳬंसर्वाᳬं सपत्नानाᳬंसवृङ्क्ते निर्भजत्यस्यै सपत्नान्य एवमेतद्वेद॥ ७॥[1]

वे देव बोले। इस पृथिवी में हम लोगों को भी भाग दीजिए, क्योंकि इसमें हमारा भी भाग है। देवों के इस वचन को सुन कुछ उदासीनता और ईर्ष्या से असुरों ने कहा कि जितनी भूमि पर यह विष्णु शयन कर रहा है उतनी हम आपको दे सकते हैं, अधिक नहीं॥ ४॥

निश्चय इस समय विष्णु वामन, अर्थात् आकार में छोटा था। असुरों के इस उत्तर पर वे देव अप्रसन्न नहीं हुए। प्रत्युत कहने लगे कि इन्होंने हमको बहुत कुछ दिया, जिन्होंने यज्ञ सम्मित (यज्ञ के बराबर) दिया है॥ ५॥

---

१. शत० १।२।५।४-७

तब देव इस विष्णु को पूर्व की ओर स्थापित कर वैदिक शब्दों से चारों ओर घेरने लगे। यजुर्वेद अध्याय १ मन्त्र २७ का एक-एक पद देकर कहते हैं कि '**गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि**', अर्थात् आपको गायत्री छन्द से घेरता हूँ। इतना कह दक्षिण की ओर '**त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि**' आपको त्रिष्टुप् छन्द से घेरता हूँ। इतना कह पश्चिम की ओर, '**जागते नत्वा छन्दसा परिगृह्णामि**', अर्थात् जगती छन्द से आपको घेरता हूँ। इतना कह उत्तर को घेर दिया। इस प्रकार उस विष्णु को चारों ओर छन्दों से परिवेष्टित कर और पूर्व की ओर अग्नि प्रज्वलित कर उसके साथ श्रम करने लगे। उससे उन्होंने सम्पूर्ण पृथिवी पर अधिकार पाया, इत्यादि।

इसी प्रकार अन्य ब्राह्मणग्रन्थों में भी त्रिविक्रम की चर्चा आई है। ग्रन्थ के विस्तार के भय से उसे यहाँ उद्धृत नहीं करते।

यहाँ पर भी सूर्य का ही वर्ण है। आप लोग देखते हैं कि यहाँ देव और असुर अपने-अपने अधिकार के लिए स्पर्धा कर रहे हैं। प्रकाश का नाम 'देव' और अन्धकार का नाम 'असुर' है। सन्ध्या काल का यह वर्णन है। पृथिवी पर यह भासित होता है कि सूर्य पूर्व से पश्चिम में जाता है। यद्यपि यह सत्य नहीं तथापि जैसा भासित होता है तदनुसार यह वर्णन है। इस हेतु मान लिया जाए कि सूर्य पश्चिम की ओर आ गया है। अब सन्ध्या होने पर है, इस समय पृथिवी पर से (जहाँ सन्ध्या हो रही है) सूर्य बहुत छोटा और प्रकाशरहित भासित होने लगता है तथा अन्धकार फैलना आरम्भ होता है, अतः असुर जो अन्धकार वे प्रसन्न हुए कि अब हमारा ही सब राज्य आया, आओ परस्पर बाँटें। देव, अर्थात् प्रकाश बिचारे दुःखित हुए कि हमारा कुछ नहीं रहा। अन्धकार पश्चिम से लेकर पूर्व तक फैल गया। यही असुरों का पश्चिम से पूर्व तक मापना है। अब प्रकाशदेव रात्रिभर दिन काट प्रातःकाल होते ही असुरों के निकट पहुँचे, परन्तु अकेले ही नहीं पहुँचे, किन्तु विष्णु को साथ लेकर जो विष्णु उस समय वामन, अर्थात् बहुत छोटा था, अर्थात् प्रातःकाल सूर्य छोटा, अपने किरणों से रहित और निस्तेज भासित होता है। इस वामन विष्णु को लेकर प्रातःकाल देव असुरों के निकट आकर बोले कि हमें भी इसमें भाग दीजिए। असुरों ने विष्णु को छोटा देखकर कहा कि जितनी भूमि पर विष्णु लेटे हुए हैं उतनी ले-लो। देव इससे अप्रसन्न नहीं हुए, क्योंकि वे समझते थे कि थोड़ी ही देर में यह वामन विष्णु, अर्थात् प्रातःकाल का सूर्य अपने किरणों

से त्रिलोकव्यापी हो जाएगा। फिर सर्वत्र हमारा ही राज्य हो जाएगा असुरों ने यह स्वीकार कर लिया, अब चिन्ता किस बात की। देवगण इतने मैं विष्णु की स्तुति=गुणगान करने लगे, अर्थात् प्रात:काल बीतने लगा, सूर्य बढ़ने लगे। असुर=अन्धकार भागने लगे। देवगण मुदित हुए। यही इसका तात्पर्य है।

यह लीला प्रतिदिन हुआ करती है। रात्रि में असुरों का राज्य और दिन में देवों का राज्य। हे आर्यो! कैसा इसका भाव था! अब किस प्रकार रूपान्तर में प्राप्त हो गया है। नि:सन्देह यहाँ विष्णु के साथ वामन शब्द का पाठ आया है, परन्तु आप लोगों ने देखा किस भाव से यहाँ "वामन" शब्द का प्रयोग हुआ है। आर्यसन्तानो! अब आप विचार करें कैसे यह आख्यायिका धीरे-धीरे विस्तार रूप में आती गई और आज किस भयङ्कर रूप में प्राप्त है। श्रीयुत मैक्स मूलर शतपथ का अनुवाद करते हुए 'वामन' शब्द पर इसी अभिप्राय की टिप्पणी देते हैं। इसे भी देखिए—

This legend is given in Muri's Original Sanskrit Texts, IV, p. 122, where it is pointed out that we have here the germ of the Dwarf Incarnation of Vishnu; and in A. Kuhn's treatise, 'Ueber Entwicklungsstufender Mythenbildung,' p. 128, where the following remarks are made on the story :

Here also we meet with the same struggle between light and darkness : the gods of light are vanquished and obtain from the Asuras who divided the earth betwen themselves, only as much room as is covered by Vishnu, who measures the atmosphere with his three steps. He represents (though I can not prove it in this place) the sunlight, which, on shrinking into dwarf's size in the evening, is the only means of preservation that is left to the gods who cover him with metres, i.e. with sacred hymns (probably in order to defend him from the powers of darkness), and in the end kindle Agni in the east—the dawn—and thereby once more obtain possession of the earth." Compare also the corresponding legend in Taitt. Br. III, 2,9,7.

विष्णु शब्द के प्रयोग पर विचार

१. विष्णु व्याप्तौ, २. विश प्रवेशने और ३. विपूर्वक अशूङ् व्याप्तौ संघाते च—इन धातुओं से इस शब्द की सिद्धि होती है। पूर्वाचार्य ऐसा ही मानते आये हैं। तब इसका अर्थ हुआ कि जो

सब जगह व्याप्त हो अथवा जिसका प्रवेश सर्वत्र हो उसको 'विष्णु' कह सकते हैं। यह अर्थ सम्पूर्ण रूप से तो केवल परमात्मा ही में घट सकता है। इस हेतु परमात्मा में यह शब्द मुख्य है और सूर्य और यज्ञादि में गौण है। सूर्य प्रथम बहुत बड़ा है इस पृथिवी की अपेक्षा १३ लक्ष गुणा बड़ा। इस हेतु इसकी व्यापकता भी बड़ी है और दूसरा अपने किरणों से बहुत व्यापक और प्रत्येक वस्तु में प्रविष्ट भी हो जाता है, क्योंकि सूर्य की गर्मी सर्वत्र पहुँच जाती है। इन कारणों से सूर्य को किसी अंश में 'विष्णु' कह सकते हैं। इसी प्रकार यज्ञ भी बहुत दूर तक फैल जाता है। इस हेतु इसको भी विष्णु कहते हैं। अब गम्भीर विचार की बात है कि मनुष्य को वैदिक शब्द के द्वारा ही सब-कुछ ज्ञान हुआ है, यह विषय निर्विवाद है। शब्द का जैसा अर्थ है वैसा ही प्रयोग भी वेद में दिखलाया गया है। एक पदार्थ के नाम अनेक भी हैं। वे सब गुणवाचक हैं। इस हेतु गुण के अनुसार शब्द का प्रयोग किया गया है, अर्थात् जहाँ ईश्वर की व्यापकता कहना है वहाँ प्रायः विष्णु शब्द का प्रयोग होगा। जहाँ परमैश्वर्य कहना है वहाँ इन्द्र, इत्यादि इसी प्रकार सूर्य आदि में भी। अब वेद में शङ्का हो सकती है कि सूर्य एकदेशी परिच्छिन्न वस्तु है। फिर वह व्यापक कैसे हो सकता है। यदि व्यापक नहीं तो विष्णु नाम भी नहीं होना चाहिए। इसका समाधान तो यह है कि सूर्य में इस शब्द की मुख्यता नहीं है। गौणरूप से भी सूर्य किस प्रकार व्यापक है, यह वेद को अवश्य दिखलाना होगा। इस हेतु वेद प्रथम प्रत्यक्ष उदाहरण दिखलाता है कि देखो पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में सूर्य कैसे व्याप्त है, परन्तु सूर्य अपने स्वरूप से इनमें व्याप्त नहीं है। सूर्य की किरणें ही फैली हुई हैं। इस हेतु वेद को कहना पड़ा कि सूर्य यद्यपि साक्षात् यहाँ तक पहुँचा हुआ नहीं है किन्तु अपनी किरणों द्वारा इनमें प्रविष्ट है। इस हेतु वह विष्णु कहलाता है।

वि+क्रम् धातु

अब इस व्यापकता की सूचनार्थ वेद में जिस धातु का प्रयोग किया गया है—वह 'क्रमु' है। पाणिनि-धातु-पाठानुसार इसका अर्थ पैर रखना है। "क्रमु पादविक्षेपे"। और "वेः पादविहरणे" १।७।४१॥ इस पाणिनीयसूत्र के अनुसार पादविहरण (पैर रखना) अर्थ में विपूर्वक क्रम् धातु से आत्मनेपद होता है। इसी 'वि' सहित क्रम

धातु का प्रयोग वेद में अधिक है। इस हेतु से भी अज्ञानी जनों को कदाचित् भ्रम हुआ हो कि यह वर्णन किसी पैरवाले का है क्योंकि जिसके पैर ही नहीं हैं, उसमें क्रम धातु का प्रयोग ही क्योंकर हो सकता है, परन्तु यह अज्ञानता की बात है, क्योंकि पाणिनि कहते हैं—

वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः ॥ १ । ३ । ३८ ॥ वृत्तिरप्रतिबन्धः । ऋचि-क्रमते बुद्धिः । न प्रतिहन्यत इत्यर्थः । सर्गे व्याकरणध्ययनाय क्रमते उत्सहते । क्रमन्तेऽस्मिन् शास्त्राणि । स्फीतीभवन्तीत्यर्थः ।

आङ् उद्गमने ॥ १ । ३ । ४० ॥ आक्रमते सूर्य उदयत इत्यर्थः ।

इत्यादि ॥

पाद विक्षेप के अतिरिक्त वृत्ति, सर्ग, तायन, उद्गमन आदि भी इसके अर्थ होते हैं और इन अर्थों में इनके बहुत-से प्रयोग भी विद्यमान हैं। इसी हेतु धातु अनेकार्थक कहलाता है। इस हेतु देखकर अर्थ निश्चय करना चाहिए। यदि यहाँ पादविक्षेप ही अर्थ रक्खा जाए तब भी कोई क्षति नहीं होती है। ईश्वर में मुख, पाद, हस्त आदि का आरोपमात्र होता है 'विश्वतश्चक्षुरुत', 'सहस्रशीर्षा' इत्यादि में नेत्रादि का आरोपमात्र है। सूर्य की किरणों को अलङ्काररूप से सूर्य के हस्त और चरण कहे गये हैं। इस हेतु सूर्य में भी घट सकता है। यज्ञ में सामग्री दग्ध होकर सर्वत्र फैलती है। मानो फैलना ही इसका एक प्रकार का गमन है। इसमें गौणरूप से प्रयुक्त हुआ है। ऐसे-ऐसे प्रयोग संस्कृत में बहुत हैं। इस विष्णु के प्रयोग में एक यह भी विचित्रता है कि जहाँ-जहाँ मुख्यतया विष्णुशब्द का प्रयोग आया है वहाँ-वहाँ इसकी व्यापकता का विशेषरूप से वर्णन है।

अदिति और विष्णु

पुराणों में कहा गया है कि अदिति के गर्भ में वामन विष्णु की उत्पत्ति हुई है। यह भी विचारणीय बात है। इसका भी सूर्य ही कारण है। अदिति शब्द पर एक स्वतन्त्र निर्णय रहेगा। यहाँ संक्षेप से यह जानना चाहिए कि वेदों में 'सूर्य' को 'अदितिपुत्र' कहा है। इस कारण भी सूर्य को 'आदित्य' कहते हैं। यास्काचार्य कहते हैं—

आदित्यः कस्माद् आदत्ते रसान् । आदत्ते भासं ज्यौतिषामादीप्तो भासेति वा। अदितेः पुत्र इति वा॥ —*निरुक्त २ । १३*

सूर्य को आदित्य क्यों कहते हैं? (आदत्ते+रसान्) रसों को

खींच लेता है! अथवा (आदत्ते+भासम्+ज्योतिषाम्) सूर्योदय होने पर चन्द्र-नक्षत्रादि ज्योतिष्मान् पदार्थ मलीन हो जाते हैं, मानो उनकी कान्ति को सूर्य ले-लेता है। अथवा (आदीप्तः+भासा) ज्योति से वह आवृत है। अथवा (अदितेः+पुत्रः) अदिति का वह पुत्र है। इत्यादि कारणों से सूर्य आदित्य कहलाता है। यहाँ यास्क ने सूर्य को आदित्य और "अदितिपुत्र" कहा है पुनः—

ते हि पुत्रासो अदितेःप्र जीवसे मर्त्याय। ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्त्रम्।

—*यजुः० ३/३४*

(अदितेः) अदिति के (ते हि+पुत्रासः) वे पुत्र, अर्थात् आदित्य (मर्त्याय) मनुष्यों को (जीवसे) जीने के लिए (अजस्त्रम्+ज्योतिः) बहुत ज्योति सर्वदा (प्र+यच्छन्ति) देते हैं।

यहाँ ज्योतिपद से सूर्य का ही बोध होता है। पुनः—

दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शꣳसत॥

—*यजुः० ४/३५*

(दूरेदृशे) जो दूर दीखता हो अथवा दूरस्थ होने पर भी जो दृष्टिगत हो (देवजाताय) देव—परमात्मा से जिसकी उत्पत्ति हो (केतवे) और जो प्रकाशरूप हो, ऐसा जो (दिवस्पुत्राय) द्यौ [द्युलोक] का पुत्र (सूर्याय) सूर्य है, उसके गुणों को हे मनुष्यो! (शंसत) प्रकाशित करो।

यहाँ द्यौ का पुत्र सूर्य कहा गया है।

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्व स्परि।
देवाँ उप प्रैत्सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत्॥

—*ऋ० १०/७२/८*

अर्थ—(अष्टौ+पुत्रासः) आठ पुत्र (ये) जो (अदितेः) अदिति के (तन्वस्परि) शरीर से (जाताः) उत्पन्न हुए, इनमें (सप्तभिः) सात पुत्रों के साथ वह अदिति (देवान् उपप्रैत्) देवों को प्राप्त होती है और अष्टम (मार्ताण्डम्) सूर्य को (परा+आस्यत्) ऊपर फेंक दिया। इस मन्त्र में भी सूर्य को अदिति-पुत्र कहा है।

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुपधापयेते।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः॥

—*यजुः० ३३/५*

महीधर के अनुसार अर्थ—(द्वे+चरतः) रात्रि और दिनरूपा

स्त्रियाँ—ये दोनों निरन्तर प्रवृत्त रहती हैं। वे दोनों कैसी हैं (विरूपे) भिन्नरूपवाली, अर्थात् रात्रि काली और दिन शुक्ल। पुनः (स्वर्थे) जिनका अच्छा प्रयोजन है। (अन्या+अन्या) ये दोनों भिन्न-भिन्न होकर (वत्सम्) अपने-अपने बच्चे को (धापयेते) दूध पिलाती हैं, अर्थात् एक रात्रि तो वत्स—अग्नि को दूध पिलाती है, क्योंकि रात्रि में अग्निदेवत्य अग्निहोत्र होता है और दूसरी दिवसरूपा नारी वत्स—आदित्य को दूध पिलाती है, क्योंकि दिन में सूर्य+देवत्य अग्निहोत्र होता है। इसी को आगे विस्पष्ट करते हैं (अन्यस्याम्) रात्रि में (हरिः) हरितवर्ण अग्नि (स्वधावान्+भवति) अन्नवान् होता है (अन्यस्याम्) दिन में (शुक्रः) शुक्ल=श्वेत आदित्य (सुवर्चाः) शोभा, तेजवाला (ददृशे) दृष्टगोचर होता है।

यह मन्त्र ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त ९५ में भी आया है। यहाँ सायण ने महीधर से भिन्न अर्थ किया है। सायण कहते हैं 'रात्रेः पुत्रः सूर्यः' रात्रि का पुत्र सूर्य है, क्योंकि वह सूर्यगर्भ के समान रात्रि में अन्तर्हित होकर रात्रि के अन्तिम भाग से उत्पन्न होता है और 'अह्नः पुत्रोऽग्निः' दिन का पुत्र अग्नि है, क्योंकि वह अग्नि दिन में विद्यमान रहने पर भी प्रकाशरहित होने से अविद्यमान-सा रहकर दिन से निकल प्रकाशमान आत्मा को प्राप्त होता है। इत्यादि।

जो कुछ हो इससे सिद्ध होता है कि दिन का पुत्र सूर्य माना गया है, इसमें सन्देह नहीं। मैंने यहाँ दोनों दिखलाये हैं कि द्यौ और 'अदिति' इन दोनों का पुत्र सूर्य है। इससे सिद्ध हुआ कि द्यौ और 'अदिति' एक ही वस्तु है। 'द्यौ' यह नाम द्युलोक का है, अतः यहाँ अदिति नाम भी द्युलोक का ही है। वेदमन्त्र स्वयं कहता है **'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्'** अदिति नाम द्यौ का है। जहाँ सूर्य अपनी कक्षा पर भ्रमण कर रहा है उस देश का नाम द्युलोक है। प्रायः आप लोग कहेंगे कि द्यौ का पुत्र सूर्य है, इसका अर्थ क्या हुआ? यहाँ मनुष्यपुत्र के समान अर्थ नहीं है, अपितु सूर्य द्युलोक का भूषण है, इस हेतु दिवस्पुत्र है। अथवा द्युलोकस्थ जो अन्य ग्रह हैं, सूर्य अपनी धारणशक्ति से उनकी रक्षा करता है, इस हेतु द्युलोक का रक्षक वा पोषक होने से वह 'दिवस्पुत्रः' है। महीधर भी यही अर्थ करता यथा—**'दिवः पुरुत्रायते स इति दिवस्पुत्रः। दिवः पालकायेति वा'** जो द्युलोक की खूब रक्षा करे अथवा जो द्युलोक का पालक है, उसे दिवस्पुत्र कहते हैं। यहाँ अदिति शब्द दिन का उपलक्षक है, अर्थात् अदिति शब्द से दिन का ग्रहण है, क्योंकि दिन का पोषक

सूर्य है। जैसे द्यौ का पुत्र होकर सूर्य द्युलोक का धारण करता है, तद्वत् दिन का पुत्र होकर सूर्य सब पदार्थों की रक्षा करता है। इस हेतु अदिति शब्द से दिन का ग्रहण है। अज्ञानी लोग जिसे ''अदिति'' देवमाता मानते हैं, उसका वेद में वर्णन नहीं है। पुराणों में कहा गया है कि मनुष्यवत् इन्द्र की माता भी अदिति है, इसी हेतु वामन इन्द्र के छोटे भाई माने गये हैं, परन्तु वेद में कहा है—

अग्नये गायत्राय त्रिवृते राथन्तराय........अदित्यै विष्णुपत्न्यै चरुरग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालोऽनुमत्या अष्टाकपालः।

—यजुः० २९/६०

यजुर्वेद के इस मन्त्र में अदिति को 'विष्णुपत्नी' कहा है। पुनः पुराण के अनुसार 'अदिति' विष्णु वामन की माता कैसे हुई? वेद के अनुसार तो ऐसे-ऐसे स्थानों में पत्नी शब्दार्थ केवल पालयित्री शक्ति होता है। देखिए महीधर—

होता यक्षत्तिस्रो देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपस इडा सरस्वती भारती महीः। इन्द्रपत्नीर्हविष्मतीर्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥

—यजुः० २८/८

इस मन्त्र में ''इन्द्रपत्नीः इन्द्रस्य पत्न्यः पालयित्र्यः'' इन्द्रपत्नी का अर्थ इन्द्र की पालयित्री शक्ति करते हैं। इस हेतु विष्णु जो सूर्य इसकी जो पालन करने की शक्ति है उसे वेद में ''विष्णुपत्नी'' कहते हैं। दिनादि शक्ति सभी सूर्य की है, अतः दिनादि भी विष्णुपत्नी हुए, अतः जो अज्ञानी लोग हैं, वे अदिति को एक नारी समझते हैं, परन्तु ज्ञानी नहीं।

अब आख्यायिका पर ध्यान दीजिए। जितने पदार्थ हैं वे सूर्य के उदय से ही भासित होते हैं और तभी उनके गुण भी प्रकाशित होते हैं। दिन में ही सकल शोभा है, अतः मानो सब पदार्थ क्या जड़, क्या चेतन, क्या स्थावर दिनरूपा अदिति के पुत्र हैं। अदितिदेवी इस जाज्वल्य, वर्धिष्णु, परम मनोहर अपने सन्तानों की सम्पत्ति देख अति प्रसन्न होती है, परन्तु जब सूर्य इसको त्याग विदा होता है, तब अदिति माता के सन्तानों की शोभा जाती रहती है। यही मानो, देवों का अधिकार छिन जाना है। तब चारों ओर अन्धकार फैल जाता है। यही असुरों का अधिकार पाना है। अन्धकाररूप महा-असुर जगत् में नाना प्रकार के उपद्रव करने लगते हैं। व्यभिचार, चोरी, डकैती, मद्यपान आदि महापातक इसी अन्धकाररूप असुर-

राज्य में प्रवृत्त होता है, इसी हेतु रात्रि का नाम ही 'दोषा' वा 'तामसी' है।

अदितिदेवी इस घटना से बड़ी दुःखिता होती है। इस भयङ्कर दुःख को मिटाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करती है। यह दुःख तभी निवृत्त हो सकता है जब पुनः सूर्य भगवान् आवें। मानो, अदिति पर प्रसन्न होकर पुनः प्रातःकाल विष्णु (सूर्य) वामनरूप (लघुरूप) धारण कर असुरों के विजय के लिए प्रस्थान करते हैं। सूर्य का प्रातःकाल में उदय होना ही अदिति के गर्भ से विष्णु का जन्म लेना है। इस समय सूर्य लघु प्रतीत होते हैं। इस हेतु ये वामन हैं। अब थोड़ी ही देर में सूर्य बढ़ने लगते हैं। ज्यों-ज्यों सूर्य बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों महान्धकार निवृत्त होता जाता है। यही असुरों का परास्त होना है। अब यहाँ से असुर कहाँ भाग जाते हैं? तो कहा गया है कि पाताल को चले जाते हैं। पाताल का अर्थ नीचा है। सूर्य ज्यों-ज्यों ऊपर जाता है त्यों-त्यों अन्धकार नीचे को भागता चला जाता है। यही असुराधिपति बलि का पाताल गमन है। प्रात्यहिक दृश्य का कैसा मनोहर वर्णन है! इसको लोगों ने क्या उलटा समझ रक्खा है।

आप लोगों ने वेदों में देखा कि विष्णु के साथ 'बलि' की कोई वार्ता नहीं आई है। हमें प्रतीत होता कि 'बलिशान' नाम मेघ का है। इसमें से 'शान' पद त्याग 'बलि' शब्द रख लिया है। मेघ होने पर अन्धकार छा जाता है। इस हेतु बलि शब्द अन्धकार का उपलक्षक है। और 'बलि' को 'वैरोचन' कहा है, जिसमें रोचन अर्थात् दीप्ति, कान्ति, तेज नहीं वह 'वैरोचन' अर्थात् मेघादि। उसका पुत्र अर्थात् अन्धकार। इस प्रकार भी 'बलि' शब्द से अन्धार बोध होता है। अथवा मेघ का एक नाम 'वल' भी है। "**वलस्यापत्यं वलिः**" वल का अपत्य 'वलि' यह आर्ष प्रयोग हो सकता है। यद्वा '**वल संवरणे इति भ्वादिः वलयति संवृणोति सम्यङ् नेत्रमाच्छादयति यः स वलिरन्धकारः**'। भ्वादिगण में संवरणार्थक 'वल' धातु है। अन्धकार नेत्र का आवरण कर लेता है, अतः अन्धकार का नाम 'वल' है। यहाँ सूर्य को अलङ्काररूप से अदितिपुत्र ही माना है। जैसे उदय काल में सूर्य छोटे भासित होते हैं, ऐसे विष्णु वामन माने गये हैं। इस प्रकार वैदिक शब्दों को मिलाया है। अब हम विश्वास करते हैं कि आप लोग अच्छे प्रकार समझ गये होंगे, क्योंकि आप स्वयं पण्डित हैं। किस प्रकार एक-एक शब्द ले-लेकर

आख्यायिका की उत्पत्ति होती गई है।

भारतवर्षीय ब्राह्मणो! क्या आप सत्य समझते हैं कि हमारा ईश्वर वामनरूप धर असुरों से राज्य छीन इन्द्र को देता है? हम समझते हैं कि आप लोग यदि इसको सत्य घटना मानते हैं तो महाशोक है, परन्तु आप भी इसको असत्य ही मानते, समझते होंगे। यह प्रातःकालिक सूर्य का वर्णनमात्र हैं। भारत सन्तानो! इसको सत्य मानकर आप कौन-सा फल समझते हो। इस आख्यायिका से आध्यात्मिक लाभ क्या है? कहाँ आध्यात्मिक उपासना, कहाँ छल, कहाँ सत्य परायणता, कहाँ कपटता, कहाँ सत्यता के लिए हरिश्चन्द्रादि महाराजों का राज्य-परित्याग, वहाँ राज्य के लिए भगवान् का भी कपटरूप धारण करना।

आहा! निःसन्देह आप लोगों का कोई दोष नहीं, यह सब पुराणलेखकों का अपराध है। इन्होंने भगवान् पर भी महाकलङ्क लगाया! परमात्मा को इस सबसे क्या प्रयोजन? उनके लिए सब बराबर हैं। इनका नियम ही सबको दण्ड दे रहा है। न वह स्वयं कहीं जाता है, न आता है। वह सबके हृदय में व्याप्त होकर सब-कुछ देख रहा है। वह प्रभु आनन्दमय, ज्ञानमय, सच्चिदानन्द, सर्वकाम, सर्वानन्द, सर्वसुख, सर्वरस, सर्वरूप है। कौन उसका शत्रु, कौन उसका मित्र है? विप्रवर्यो! अब भी आप लोग इस सर्वान्तर्यामी, सर्वानन्दप्रद, शुद्ध, अकाय, अव्रण, अजर, अमर, अजन्मा, ध्रुव, कूटस्थ, एक, अद्वितीय ब्रह्म को भजें। अपने हृदय में इसको देखें। वह आनन्दमय देव कहाँ नहीं है। उससे परमाणु भी खाली नहीं। इसकी परम कृपा कि आप नीरोग होकर इसकी परितःस्थित विभूति को देखते हैं। परन्तु विप्र! जैसे देखते हैं वैसे समझने के लिए भी प्रयत्न करें। शुद्ध ब्रह्म की सन्निधि से स्वयं शुद्ध होवें और अन्यान्य को शुद्ध बनावें। हे प्रियगण! ज्ञान ही परम शुद्धता का बीज है। ज्ञान ही वेदशास्त्र प्रशंसित है। यही भूषण है। यही धन है। ज्ञान ग्रहण का पूर्ण अभ्यास करें और ज्ञानियों के संग से लाभ उठावें। हम लोग निष्कारण महापाप करते हैं जब शुद्ध, अक्रिय, अशत्रु ब्रह्म पर किसी प्रकार का दोषारोपण करते हैं। अज्ञानीजनों ने तात्पर्य न समझ मिथ्या-मिथ्या कथा बना देश में अविद्यारूप नदियाँ प्रवाहित की हैं। उसी ब्रह्म से इसके लिए क्षमा माँगे। आगे हम सब शुद्ध होवें और भविष्यत् में हमारे सन्तान प्रत्येक अशुद्ध और पापजनक भावना से रहित हो जगत् में मङ्गल-विधायक होवें।

विष्णो रराटमसि विष्णोः श्नप्त्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोर्ध्रुवोऽसि वैष्णवमसि विष्णवे त्वा ॥ — *यजुः० ५/२१*

सर्वव्यापी परमात्मन्! आप ही (विष्णोः) बहुत प्रदेशव्यापी सूर्य का अथवा सूर्यव्यापी जगत् का (रराटम्+असि) ललाट हैं, अर्थात् सबसे ऊपर आप ही विद्यमान हैं। आप ही (विष्णोः) सूर्य का (श्नप्त्रे+स्थः) ओष्ठ स्थानीय हैं, जब चाहें तब आप इस सूर्य को बद्ध वा प्रकाशित कर सकते हैं। (विष्णोः+स्यूः+असि) सूर्य का बन्धन भी आप ही हैं। (विष्णोः+ध्रुवः+असि) सूर्य को स्थिर रखनेवाले भी आप ही हैं। (वैष्णवम्+असि) सूर्य-सम्बन्धी तेज का कारण भी आप ही हैं। हे भगवन्! (विष्णवे) सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी आपके लिए ही मेरा सब कार्य होवे। आपकी प्रीति के लिए ही मैं सम्पूर्ण प्रयत्न करूँ। (त्वा) आपको ही भजूँ, ऐसी सुमति मुझे आप देवें। आपको त्याग अन्य किसी को न पूजूँ, न भजूँ। आपको ही परमात्मा समझूँ।

अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वाऽतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वा अग्नेय त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा ॥ — *यजुः० ५/१*

अर्थ—हे मेरे जीवात्मन्! आप (अग्नेः) अग्नि का (तनूः+असि) शरीर हो, अर्थात् आग्नेय शक्ति से युक्त हो। अग्निवत् प्रकाशक, जाज्वल्यमान, शुद्ध, पवित्र हो। इस हेतु (त्वा) आपको (विष्णवे) अन्तर्यामी, व्यापक परमात्मा के निकट समर्पित करता हूँ। (सोमस्य+तनूः असि) सुन्दर पदार्थों का आप शरीर हैं, इस हेतु हे जीव! (विष्णवे+त्वा) परमात्मा के निमित्त आपको समर्पित करता हूँ (अतिथेः+आतिथ्यम्+असि) आप अतिथि का सत्कारस्वरूप हैं, इस हेतु (विष्णवे+त्वा) ईश्वर के निमित्त आपको समर्पित करता हूँ। हे मेरे प्रिय जीव! (श्येनाय+सोमभृते) विविध पदार्थों का भरण-पोषण करनेवाला, वायुवत् वेगवान्, सर्वत्र विद्यमान और सबके प्राणस्वरूप ब्रह्म के लिए आपको नियुक्त करता हूँ (विष्णवे+त्वा) ब्रह्म के ही लिए आपको कार्य में प्रेरित करता हूँ (अग्नये+त्वा) अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म के लिए आपको नियुक्त करता हूँ (रायस्पोषदे+त्वा) राय= ऐहलौकिक सुख और पारलौकिक-निःश्रेयस—सुख की पुष्टि करनेवाले विष्णु के लिए ही आपको कर्म में नियुक्त करता हूँ। हे मेरे प्रिय जीव! आप जो कुछ शुभ कर्मानुष्ठान का सम्पादन करें, वह ईश्वर

के निमित्त ही करें। मैं सदा चाहता हूँ कि आपकी दृष्टि में सदा अन्तर्यामी परमात्मा विद्यमान रहें, आप उसी के आधार पर सन्तरण करें। वही आपके पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर-नीचे सर्वत्र विद्यमान रहें। इसे त्याग किसी कार्य में प्रवृत्त न होवें। उसी की शरण में सदा रहें।

दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या महो वा विष्ण उरोरन्तरिक्षात्।
उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा ॥

— *यजु:० ५ । १९*

अर्थ—(विष्णो) हे सर्वव्यापी ब्रह्म! आप (दिव:+वा) द्युलोक से (उत+वा) अथवा (पृथिव्या:) पृथिवी से (वा) अथवा हे (विष्णो) विष्णो! (मह:+उरो:) महाविस्तीर्ण (अन्तरिक्षात्) द्युलोक से कहीं से लाकर (वसुना) वसु से आप प्रथम अपने (उभा+हि+हस्ता) दोनों हाथ को (पृणस्व) भरें, तत्पश्चात् (दक्षिणात्) दक्षिण हस्त से (उत) अथवा (सव्यात्) वाम हस्त से (आ+प्रयछ) मुझको वसु दीजिए। हे जीवात्मन्! (त्वा) आपको (विष्णवे) विष्णु की प्रीति के कारण नियुक्त करता हूँ।

यहाँ परम प्रीति दिखलाई गई है। जैसे छोटा बच्चा अपने पिता से प्रार्थना करता है कि मुझे अमुक पदार्थ अवश्य दीजिए, तद्वत्। यहाँ कोई भक्त ईश्वर से प्रार्थना करता है कि मुझे 'वसु' दीजिए। वसु नाम ज्ञान-सम्पत्ति का है इसी से उभय लोक में वास होता है। वह ईश्वर त्रिलोक व्यापी है, इसी हेतु जहाँ से वह चाहे वहाँ से हमें ज्ञान दे सकता है। सामर्थ्य ही उसका हस्त है। इसी परमात्म-देव की स्तुति-प्रार्थना करते हुए हम जीव ऐहिक कार्य का तन-मन से अनुष्ठान करें। इति॥

जलन्धर और विष्णु

यद्यपि भागवत प्रभृति सुप्रसिद्ध पुराणों में वृन्दा और जलन्धर की आख्यायिका नहीं है तथापि कार्तिक माहात्म्य में इसकी कथा पाई जाती है। आजकल नारीगण इसको बहुधा सुना करते हैं। यह कार्तिक माहात्म्य पद्मपुराण का एक भाग समझा जाता है। इसका प्रसङ्ग इस प्रकार है।

विष्णु भगवान् को तुलसी क्यों प्रिया है? इस प्रश्न पर कथा चली है कि एक समय इन्द्र और रुद्र में महा द्वन्द्व-युद्ध होने लगा। रुद्र ने इन्द्र को मार गिराया। बृहस्पति यह सुनकर महादेव के निकट

आ उन्हें प्रसन्न कर बोले कि हे रुद्र! इन्द्र को जीवनदान दीजिए और भालनेत्र-समुद्भव यह कालाग्नि शान्त होवे। रुद्र ने कहा एवमस्तु। यह अग्नि पुनरपि भाल में तो प्रविष्ट नहीं होगा, परन्तु मैं इसका वहाँ पर त्याग करूँगा जहाँ इन्द्र को यह पीड़ित नहीं करेगा। उस अग्नि को समुद्र में फेंका। वहाँ तत्काल ही वह बालक हो गया। समुद्र ने ब्रह्मा से इसका नामकरण-संस्कार करवाया। इसका नाम जगत् में जलन्धर विख्यात हुआ। वृन्दा से विवाह कर देवों के सब अधिकारों को इसने छीन लिया। देवगण लड़ते रहे, परन्तु अन्त में हार मान इधर-उधर भाग गये। रुद्र और जलन्धर में तुमुल संग्राम होता रहा। जलन्धर को संग्रामभूमि में न गिरते देख विष्णु भगवान् ने यह विचारा कि जब तक इसकी पतिव्रता स्त्री वृन्दा का पातिव्रतधर्म भंग नहीं होगा, तब तक यह नहीं मरेगा।

नान्यथा स भवेद्वध्यःपातिव्रतसुरक्षितः।
विष्णुर्जलन्धरं दृष्ट्वा तद्दैत्यपुरभेदनम्।
पातिव्रतस्य भंगाय वृन्दायाश्चाकरोन्मतिम्॥

वृन्दा के पातिव्रत के भंग के लिए विष्णुजी प्रयत्न करने लगे और अन्त में वैसा ही किया। किसी उपाय से वृन्दा को विश्वासित कर स्वयं जलन्धर का रूप धर इसके पातिव्रत का भंग किया। इसके पातिव्रत भंग होने से जलन्धर संग्राम में रुद्र से मारा गया। यही संक्षेप में कथा है। इस कथा में कई बातें बड़ी ही विचित्र हैं। जिस समय वृन्दा को यह प्रतीत हुआ है कि इस विष्णु ने मेरे साथ बड़ा कपट किया है, उस समय वृन्दा ने यों कहा—

वृन्दोवाच

धिक् त्वदीयं हरे शीलं परदाराभिगामिनः।
ज्ञातोऽसि त्वं मया सम्यङ् मायी प्रत्यक्षतापसः॥
यौ त्वया मायिनौ द्वाःथौ स्वकीयो दर्शितौ मम।
तावेव राक्षसौ भूत्वा भार्यां तव हरिष्यतः॥
त्वं चापि भार्यादुखार्तो वने कपिसहायवान्।
भव सर्वेश्वरेणायं यस्ते शिष्यत्वमागतः॥
इत्युक्त्वा सा तदा वृन्दाप्राविशद्धव्यवाहनम्।
विष्णुना वार्यमाणापि तस्यामसक्तमानसः॥
ततो हरिस्तामनुसंस्मरन्मुहुर्वृन्दान्वितो भस्मरजोवगुण्ठितः।
तत्रैव तस्थौ सुरसिद्धसंघैः प्रबोध्यमानोऽपि ययौ न शान्तिम्॥

—अध्याय १६॥

तुझ परदाराभिगामी को धिक्कार हो! तुझको मैंने पहिचाना तू वही मायी तापस है। तूने प्रथम मुझको दो दूत दिखलाये। वे ही दोनों राक्षस होकर तेरी भार्या को हरेंगे और तू भार्या के दुःख से दुःखित हो वानरों की सहायता चाहेगा। ऐसी दशा तेरी भी होगी। इतना कह वह वृन्दा अग्नि में प्रवेश कर भस्म हो गई। विष्णु ने उसको बारम्बार इस काम से रोका, परन्तु वह एक न सुनकर भस्म ही हो गई। विष्णु उसी को स्मरण करते हुए और उसकी चिता से भस्म लगा उसके वियोग से उन्मत्त हो गये। देव, सिद्धगण कितनी ही प्रार्थना करते हैं। विष्णुजी एक भी नहीं सुनते। यह वृन्दा के वियोग से अशान्त ही पड़े हुए हैं।

इधर जलन्धर का वध हुआ। देवलोग प्रसन्न हुए। महेश्वर से निवेदन करने लगे कि आपने देवों का बड़ा उपकार किया, परन्तु—

किञ्चिदन्यत्समुद्भूतं तत्र किंकरवामहे।
वृन्दालावण्यसंभ्रान्तो विष्णुस्तिष्ठति मोहितः॥

एक महा अनर्थ उपस्थित हुआ है, हम लोग क्या करें। विष्णुजी वृन्दा के लावण्य से सम्भ्रान्त और मोहित हो जगत् का ध्वंस कर रहे हैं। इसका क्या उपाय है।

महेश्वर ने देवों को मूलप्रकृति की सेवा में जाने के लिए कहा। देवगण से प्रार्थित मूलप्रकृति बोली कि मैं ही लक्ष्मी, सरस्वती और पार्वती तीन रूपों में स्थित हूँ। इन्हीं तीनों के निकट आप लोग जाएँ, अवश्य कल्याण होगा। देवगण इन तीनों देवियों के निकट पहुँचे। इन तीनों ने तीन बीज देकर कहा कि—

देवाता ऊचुः

इमानि तत्र बीजानि विष्णुर्यत्रावतिष्ठते।
निवपध्वं ततः कार्यं भवतां सिद्धिमेष्यति॥

जहाँ विष्णु स्थित हैं, वहाँ इन बीजों को बो दीजिए। इसी से आप लोगों का कार्य सिद्ध होगा।

देवों ने वैसा ही किया। उन तीनों बीजों से धात्री, मालती और तुलसी तीन वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं।

धात्र्युद्भवा स्मृता धात्री माभवा मालती स्मृता।
गौरीभवा च तुलसी नमः सत्त्वरजोगुणः॥
स्त्रीरूपिण्यो वनस्पत्यो दृष्ट्वा विष्णोस्तदा नृप।
उत्तस्थौ संभ्रमाद् वृन्दारूपातिशयविभ्रमः॥

दृष्ट्वा च तेन रागात् कामासक्तेन चेतसा।
तं चापि तुलसी धात्री रागेणैव व्यलोकयत्॥
तत्र लक्ष्म्या पुराबीजमीर्ष्ययैवसमर्पितम्।
तस्मात्तदुद्भवा नारी तस्मिन्नीर्ष्यापरा भवेत्॥
ततः सा वर्वरीत्याख्यामवापाथ विगर्हिता।
धात्री तुलस्यौ तद्रागात् तस्य प्रीतिपदे सदा॥
ततो विस्मृतदुःखोऽसौ विष्णुताभ्यां सहैव तु।
वैकुण्ठमगमद्धृष्टः सर्वदेवनमस्कृतः॥

—अध्याय १८॥

जिस हेतु धात्री (सरस्वती) से उत्पन्न हुई इस हेतु वह धात्री (आँवला का वृक्ष) हुई। मा (लक्ष्मी) से उत्पत्ति होने के कारण मालती और गौरी से जो वनस्पति हुई वह तुलसी हुई। स्त्रीरूपा वनस्पतियों को देख महाविष्णु जो वृन्दा के परम सुन्दर रूप से मोहित हो, उन्मत्त थे, अब शान्त हो गये और राग से उनको देखने लगे। तुलसी और धात्री भी बड़ी प्रीति से देखने लगीं। लक्ष्मीजी ने पहले ही बीज ईर्ष्या से दिया था, इस हेतु उससे जो नारी उत्पन्न हुई उसने ईर्ष्या से ही विष्णु को देखा। इसी हेतु वह निन्दनीय वर्वरी कहलाती है। धात्री और तुलसी दोनों विष्णु की परम प्रीति की भाजन हुईं। सब दुःखों को भूल इन दोनों के साथ विष्णु वैकुण्ठ को चले गये।

विचार से प्रतीत होता है कि इसका लेखक कोई शिवद्रोही महाज्ञानी था। प्रथम तो इसने असुर जलन्धर की स्त्री वृन्दा को पूर्ण रीति से पतिता सिद्ध किया और विष्णु को परदाराभिगामी और सरस्वती तथा पार्वतीजी पर महासह्य, अचिन्त्य, अवाच्य कलङ्क लगाया है, क्योंकि सरस्वती और पार्वती प्रदत्त बीजी से उत्पन्न नारियाँ विष्णु की प्रियतमा बनीं। इसमें भी पार्वतीबीज से उत्पन्न तुलसी तो साक्षात् प्रिया बनी। लक्ष्मीबीजोद्भवा नारी निरादृता हुई। किसी वैष्णवाभिमानी ने इससे समझा होगा कि इस उपाय से शैव लोग भी तुलसी को पार्वतीजी का अंश मान विष्णु के भक्त बन जाएँगे परन्तु इस अज्ञानी को यह नहीं सूझा कि श्रीपार्वतीजी पर कैसा अपरिमार्जनीय कलङ्क लगता है। ऐसी-ऐसी कथाएँ सूचित करती हैं कि यह देश अत्यन्त भ्रष्ट हो गया है। इसमें आचरण का सर्वथा लोप हो गया है, जिसके परम पूज्य देव परस्त्री पर मोहित हों और ऐसे कामी हों कि अन्यरूप बनाकर परस्त्री को सदा अपने ऊपर

धारण किये रहते हैं, क्षणमात्र भी इससे वियुक्त न हो सकें।

हे भारत-विद्वानो! सोचो, इस कथा से आप स्त्रियों को क्या शिक्षा देते हैं। क्या वृन्दा के समान पतिव्रता होने की शिक्षा देते हैं! परन्तु यह भी स्मरण रखिए कि विष्णु का अनुकरण पुरुष करेगा। तब पुनः स्त्रियों का पातिव्रत्य कहाँ रहा जो साक्षात् अपने को विष्णु कहेगा वह कितना पाप करेगा। सरस्वती और पार्वती के बीज से क्या शिक्षा स्त्रियों को मिलेगी! आह! कैसा-कैसा घोर पाप इस भारत में ऐसी कथाएँ प्रचलित कर रहीं हैं। हे बुधवरो! अज्ञानी लोगों ने विष्णु को परम कलङ्कित किया है। इस कथा का भी मूलकारण सूर्यदेव ही है, परन्तु आगे चलकर महा भयङ्कर रूप को यह धारण कर लेती है। धीरे-धीरे इसके भाव बदल गये।

'जलन्धर' नाम मेघ है, जो जलधर उसे 'जलन्धर' कहते हैं। 'जलं धरतीति जलन्धरः'। जब समुद्र में बड़ी गरमी पैदा होती है तब प्रधानतया मेघ बनता है। रुद्र नाम विद्युत् का है। वह विद्युत्-शक्ति, अर्थात् आग्नेयशक्ति जब समुद्र में अधिक गरमी पैदा करती है तब उससे जलन्धर=मेघ का जन्म होता है। यही समुद्र में रुद्र का अग्नि फेंकना और जलन्धर का जन्म लेना है। जब जलन्धर बहुत बढ़ जाता है, परन्तु पानी नहीं छोड़ता, अर्थात् बरसता नहीं, तब देवगण बहुत घबराते हैं। रुद्र जो विद्युत् वह मेघ से युद्ध करना आरम्भ करता है, परन्तु केवल विद्युत् से वह नहीं मरता। मेघ के जो अनेक झुण्ड दीख पड़ते हैं उनको संस्कृत में वृन्द (समूह) कहते हैं। इसी को स्त्रीलिङ्ग कर 'वृन्दा' बना लिया है। यही सब घटा मानो जलन्धर मेघ की स्त्री है। इस वृन्दा के ऊपर जब सूर्य किरण पड़ता है तब गलकर पृथिवी पर गिरने लगती है। यही वृन्दा का विष्णुकृत पातिव्रत भंग है। वृन्दा के नाश होते ही जलन्धर नष्ट हो जाता है। यही इसका भाव है, परन्तु इसको न समझकर कैसी अघटित घटना गढ़ पौराणिकों ने जगत् में महापाप फैलाया है। ईश्वर इनसे भारत की रक्षा करे।

शालिग्राम और विष्णु

नारद उवाच

नारायणश्च भगवान् वीर्याधानं चकार ह।
तुलस्यां केन रूपेण तन्मे व्याख्यातुमर्हसि॥ १॥

श्रीनारायण उवाच

नारायणश्च भगवान् देवानां साधनेषु च।
शंखचूडस्य कवचं गृहीत्वा विष्णुमायया॥ २॥
पुनर्विधाय तद्रूपं जगाम तत्सतीगृहम्।
पातिव्रतस्य नाशेन शंखचूडजिघांसया॥ ३॥
दुन्दुभिं वादयामास तुलसीद्वारसन्निधौ॥ ४॥

—देवीभागवत नवम स्कन्ध॥ २४॥

वृन्दा के उपाख्यान के सदृश ही तुलसी का उपाख्यान है। इसी तुलसी के शाप से विष्णु भगवान् प्रस्तरत्व को प्राप्त हुए हैं। जिस प्रस्तर को आजकल शालिग्राम कहते हैं—

शङ्खचूड़ नाम का एक असुर था। उसकी स्त्री का नाम तुलसी था। यह परम पतिव्रता थी और ये दोनों दम्पती विष्णुभक्ति-परायण थे। इसके पतिव्रत के प्रताप से संग्राम में शङ्खचूड़ परास्त नहीं होता था। इस हेतु विष्णुजी प्रथम तो शङ्खचूड़ से दान में उसका कवच माँग लाये, पश्चात् शङ्खचूड़ के समान ही रूप धरके तुलसी के पातिव्रत धर्म के नाश से शङ्खचूड़ के घात की इच्छा से तुलसी के द्वार पर दुन्दुभि बजाते हुए भगवान् पहुँचे।

रेमे रमापतिस्तत्र रमया सह नारद।
सा साध्वी सुखसंभोगाद्वर्णव्यतिक्रमात् तदा॥ १७॥
सर्वं वितर्कयामास कस्त्वमेवेत्युवाच सा।

तुलस्युवाच

को वा त्वं वद मायेश भुक्ताऽहं मायया त्वया॥ १८॥
दूरीकृतं मत्सतीत्वं यदतस्त्वां शपामि ते।
तुलसीवचनं श्रुत्वा हरिःशापभयेन च॥ १९॥
दधार लीलया ब्रह्मन् सुमूर्तिं च मनोहरम्।
ददर्श पुरतो देवी देववदेवं सनातनम्॥ २०॥

....

पाषाणहृदयस्त्वं हि दयाहीनो यतः प्रभो॥ २४॥
तस्मात् पाषाणरूपस्त्वं भुवि देव भवाधुना।
ये वदन्ति साधुं त्वां ते भ्रान्ता हि न संशयः॥ २५॥
भक्तो विनापराधेन परार्थे च कथं हतः।
भृशं रुरोद शोकार्ता विललाप मुहुर्मुहुः॥ २६॥

अनेक प्रकार के छल-बल कर तुलसी को "यह निश्चय मेरे

ही स्वामी हैं'' ऐसा विश्वास कराकर उसके सतीत्व का विध्वंस किया, परन्तु अन्त में तुलसी को सब वार्ता ज्ञात हो गई। बहुत शोकार्ता हो, वह बोली। तू बड़ा ही कठोर और छली है। तेरा हृदय पाषाण के समान है। इस हेतु तू आज से पृथिवी पर पाषाणरूप हो जा। निःसन्देह, जो तुझे साधु कहते हैं, वे भ्रान्त हैं। तूने अपने भक्त को किस अपराध से दूसरे के लिए हत किया है। इतना कह वह अत्यन्त विलाप करने लगी। विष्णु भी इसे शोकार्त देख भरोसा दे, बोले—

इयं तनुर्नदीरूपा गण्डकीति च विश्रुता॥ ३१॥
तव केशसमूहश्च पुण्यवृक्षो भविष्यति।
तुलसीकेशसंभूता तुलसीति च विश्रुता॥ ३२॥
त्रिषु लोकेषु पुष्पाणां पत्राणां देवपूजने।
प्रधानरूपा तुलसी भविष्यति वरानने॥ ३३॥
स्वर्गे मर्त्ये च पाताले गोलोके मम सन्निधौ।
भव त्वं तुलसी वृक्षवरा पुष्पेषु सुन्दरी॥ ३४॥
अहं च शैलरूपेण गण्डकीतीरसन्निधौ।
अधिष्ठानं करिष्यामि भारते तव शापतः॥ ५६॥
कोटिसंख्यास्तत्र कीटास्तीक्ष्णदंष्ट्रा वरायुधैः।
तच्छिलाकुहरे चक्रं करिष्यन्ति मदीयकम्॥ ३६॥

तुम्हारा यह तनु (शरीर) जगत् में गण्डकी नदी प्रसिद्ध होगी और तुम्हारे ये केशसमूह पवित्र वृक्ष होंगे। तुलसी के केश से होने के कारण यह तुलसी कहलाती है। तीनों लोकों में—स्वर्ग, मर्त्य, पाताल सर्वत्र देवपूजन में इसके पत्र-पुष्प काम में आएँगे। इससे श्रेष्ठ पत्र-पुष्प किसी के नहीं होंगे। हे तुलसी! तुम सर्वत्र मेरे समीप वास करो। तुम्हारे बिना मेरी पूजा वृथा है, तुम्हारे सेवन से गति, मुक्ति सभी होगी और मैं तुम्हारे शाप से गण्डकी के तीर पर प्रस्तर होकर निवास करूँगा। वहाँ तीक्ष्ण दन्त के सहस्रों कीट उस शिला के छिद्र में मेरा चक्र बनाएँगे। वे अनेक प्रकार के होंगे ''**शालिग्रामं च तुलसीं शंखं चैकत्रमेव च। यो रक्षति महाज्ञानी स भवेच्छ्री हरेः प्रियः**'' शालिग्राम, तुलसी, शंख और चक्र ये चारों जो रक्खेंगे, वे महा ज्ञानी, लक्ष्मीवान् और मेरे प्रिय होंगे।

इत्यादि कथा देवीभागवत में विस्तारपूर्वक उक्त है। ये सब कथाएँ बहुत आधुनिक हैं। शालिग्राम की चर्चा कहीं पर भी प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है। यहाँ एक और विलक्षणता देखते हैं कि तुलसीवृक्ष

तुलसी से हुआ है। कार्तिक माहात्म्य में पार्वती के बीज से इसकी उत्पत्ति मानी है।

शालिग्राम की उत्पत्ति और पूजा का कारण

जिस शालिग्राम की पूजा होती है वह यथार्थ में पाषाण नहीं है। भूल से इसको लोग पाषाण समझते आये हैं। यूरोप आदि देशों में भी इसको लोग पाषाण ही समझते थे, परन्तु अब परीक्षा से सिद्ध हुआ है कि यह एक प्रकार का Shell घोंघा है। ये बहुत प्रकार के होते हैं। कोई बहुत ही छोटे होते हैं और कोई गाड़ी के पहिया चाक (चक्र) के बराबर होते हैं। इसको अङ्गरेजी में Ammonites ऐमोनाइटस् कहते हैं। यह साइंटिफिक नाम है। ये अन्य देश में भी पाये जाते हैं। गण्डकी नदी में मृत और जीवित भी बहुत पाये जाते हैं। एक विद्वान् लिखते हैं—

Ammonites—This shell fish was found through the Mesozoic Age in many forms. Several hundred species are known. They varied in size, some being very minute. Others as large as a cart wheel. They were called ammonites, from a fancied resemblance to the horns of the sculptured heads jupiter Ammon. In former days in Europe they were mistaken for snakes turned into stone. Among Hiudus they are known as Salagramas.

दूसरे विद्वान् लिखते हैं।

Ammonites attracted the attention of the curious long before geology was seriously studied, and legends were invented to explain them.

Then Whitby's nuns exulting told
How of thousand snacks each one
Was turned into a coil of stone.
When holy Hilda prayed. —Scott's Marmion. II. 13.

यह बहुत सुन्दर और ठीक चक्र के समान होता है। मुझे प्रतीत होता है कि इसकी सुन्दरता देख इसकी पूजा अज्ञानी लोग करने लगे होंगे। पीछे धीरे-धीरे सर्वत्र पूजा चल पड़ी होगी। अथवा विष्णु-रचयिता ने सूर्य को अच्छे प्रकार मनुष्य के स्वरूप में ढाल विष्णु नाम दे जगत् में पूजा चलाई। उस समय यह भी एक आवश्यकता आई कि मूर्त्ति दो प्रकार की होनी चाहिए। एक चल और दूसरी अचल। अचल तो मनुष्यरूप विष्णु हुए। चल के लिए इसी शालिग्राम

को रक्खा, क्योंकि जैसे सूर्य का तेज चक्राकार भासित होता है वैसा ही यह भी कोई-कोई होता है। इसपर सुन्दर-सुन्दर रेखाएँ होती हैं और चक्राकार होता है। चक्र का स्वरूप भी इसपर अङ्कित रहता है। इस हेतु इसको सूर्य भगवान् का अवतार मान इसकी पूजा चलाई हो। अथवा इस शालिग्राम के अभ्यन्तर एक सूक्ष्म कीट बहुत ही सुन्दर और सुवर्णाकार होता है। जैसा घोंघा वा शंख में केवल मांस के लोथ के समान जीव होता है, वैसा जीव इसमें नहीं होता, इसमें इससे कुछ विलक्षण होता है। इसको लोग निकाल देते हैं अथवा जैसे कौड़ी, शंख के अभ्यन्तर के जीव कुछ दिनों के पश्चात् स्वयं मर जाते हैं तद्वत् इस शालिग्राम के जीव भी मर जाते हैं। इसको देखकर यहाँ के पौराणिकों ने विचार किया होगा कि हिरण्यगर्भ जो आदिसृष्टि में हुए अण्डसमान सहस्त्र सूर्यप्रतिभ थे, इन्हीं का यह अवतार है, क्योंकि इसमें भी वे गुण पाये जाते हैं इसी हेतु इसको हिरण्यगर्भ भी कहते हैं। अथवा सब जीवों की सृष्टि के पहले भगवान् ने इसी को प्रथम बनाया हो, क्योंकि इसमें प्रस्तर और जीव दोनों पाये जाते हैं और इन्द्रियादि का विकास बहुत सूक्ष्म पाया जाता है। यह समझकर पौराणिकों ने इसकी पूजा चलाई हो, परन्तु जिओलोजी विद्यावित् इसको प्रथम जीव नहीं मानते। जो कुछ हो यह अज्ञानता के कारण से भ्रम उत्पन्न हुआ है। शंख, घोंघा, सीपी, वृक्ष, पाषाण, जल प्रभृति की पूजा निःसन्देह अविद्या से उपजी है।

हे विद्वानो! कैसा शोक है कि ब्रह्म की उपासना छोड़ यहाँ के लोग तुच्छ-तुच्छ पदार्थों को ईश्वर समझ पूजने लगे। यह शालिग्राम भारतदेश में केवल गण्डकी वा शालग्रामी नदी में होता है। इस हेतु भगवान् को भी शापवश गण्डकी के तीर पर वा इसकी धारा में वास करना पड़ा, परन्तु जगत् बहुत बड़ा है, आजकल प्रायः सब देशों का भूगोल व इतिहास पढ़ाया जाता है और अन्वेषण होता ही रहता है। इस परिश्रम के फल से अनेक स्थानों में शालिग्रामजी पाये गये। अब भगवान् का वाक्य कहाँ रहा? गण्डकी नदी तो भारतवर्ष में ही है। क्या इस असुर के पहले गण्डकी नदी नहीं थी। यदि यह नदी तुलसी का शरीर है तो सब ऋतुओं में इसको समान ही रहना चाहिए। वर्षा और ग्रीष्म में बढ़ना-घटना नहीं चाहिए। एवमस्तु। शालिग्राम इसका नाम भी अनुचित ही प्रतीत होता है, क्योंकि शालवृक्षों के ग्राम को शालग्राम कहेंगे अथवा कोई शालिग्राम कहते हैं। शालि नाम धान का है। कहने का तात्पर्य यह है कि

इस नाम से कुछ ईश्वरीय-गुण प्रतीत नहीं होते और यह कथा भी अत्यन्त अश्लील और अवाच्य है। यदि विष्णु केवल सूर्य प्रतिनिधिरूप में ही पूजित होते तब भी कुछ अच्छा था। इनको स्वेच्छानुसार सब-कुछ बना लिया। यदि छल करना है तो इनको आगे कर दिया, यदि लम्पटता का उदाहरण प्रस्तुत करना है तो झट इनका निदर्शन दिखला दिया। चोरी भी करना इनसे नहीं छूटा है। मद्यपान कर इनके कुल का ही क्षय हुआ है। रण में युधिष्ठिर सत्यवादी से मिथ्या बुलवाना इनका ही काम था। परस्त्री राधा से इनकी ही परम प्रीति वर्णित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यथार्थ विष्णु अब विष्णु नहीं रहे। विष्णु एक साधारण मनुष्य बन गये।

शालिग्राम की पूजा

पौराणिक जगत् में शालिग्राम की कथा बहुत ही शोचनीय है, तुलसी ने अच्छा शाप दिया कि "तू पाषाण हो जा", "तू ने महा अनुचित काम किया"। विष्णु पाषाण हो गये यह भी उचित ही हुआ, परन्तु यह और भी सुशोभित होता और पौराणिक धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ती यदि इसकी पूजा नहीं होती, अपितु इसकी परम निन्दा होती, क्योंकि जिसको पतिव्रता ने शाप दिया और उस शाप से जो पाषाण बना वह अवश्य जगत् में निन्दनीय है। यदि ऐसा होता तो निःसन्देह यह कथा बहुत ही रोचक और शिक्षाप्रद होती, परन्तु अति शोक की वार्ता है कि शापित पाषाण की पूजा चलाकर अधर्म की जड़ को स्थिर कर दिया और भगवान् पर अचल लाञ्छन अङ्कित कर अपने स्वभाव का परिचय दिया है। हे विद्वानो ! आप लोग विचार करें। यहाँ यह भी जानना चाहिए कि प्रथम तो चक्राकार शालिग्राम की पूजा होती है। भगवान् पर तुलसी चढ़ाने की विधि बहुत ही आधुनिक है। इस तुलसी-वृक्ष की श्रेष्ठता प्रकट करने और शालिग्राम को पूज्य बनाने के हेतु ये सब उपाख्यान प्रकल्पित हुए हैं।

विष्णु का शयन और उत्थापन

मैत्राद्यपादे स्वपितो ह विष्णुः पौष्णान्त्यपादे प्रतिबोधमेति।
एकादश्यान्तु शुक्लायामाषाढे भगवान् हरिः।
भुजङ्गशयने शेते क्षीरार्णवजले सदा।
क्षीराब्धौ शेषपर्यङ्के आषाढ्यां संविशेद्धरिः।
निद्रां त्यजति कार्तिक्यां तयोः संपूजयेत्सदा॥ इत्यादि

—निर्णयसिन्धौ।

इसका भाव यह है कि आषाढ शुक्ल-पक्ष की एकादशी को भगवान् क्षीरसागर में भुजङ्ग पर सो जाते हैं और कार्तिक शुक्ल-पक्ष एकादशी को पुनः जागते हैं। ये दिन पवित्र समझे जाते हैं, इत्यादि।

लगातार चार मास भगवान् सोते रहते हैं यह विचार क्योंकर उत्पन्न हुआ? मैं समझता हूँ इसके दो कारण हो सकते हैं। आप जानते हैं कि ये चारों मास वर्षाऋतु के हैं। भारतवर्ष में कहीं-कहीं अब भी रात्रिन्दिवा वृष्टि होती रहती है। बंगाल आदि प्रदेशों में अतिवृष्टि होने के कारण आजकल भी नदियाँ बहुत भर जाती हैं, जिससे सहस्रों ग्राम, पल्ली नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। बहुत-से मनुष्य भी डूब मरते हैं। गृह्य पशुओं के ऊपर बड़ी आपत्ति आ जाती है। यह एक प्रकार का प्रलय-समान समय उपस्थित होता है। जिन्होंने इस दृश्य को देखा है, उन्हें अच्छे प्रकार परिज्ञात है कि इस घोर आपत्ति समय में प्रजाएँ हा-हाकार मचाने लगती हैं। भगवान् कहाँ हैं? क्यों नहीं हमारी रक्षा करते हैं। क्या अभी वह सो गये। हम किसकी शरण जाएँ। इस प्रकार विलाप करती हुई प्रजाओं को पुरोहितों वा आचार्यों ने सचमुच समझा दिया होगा कि आजकल भगवान् यथार्थ में सो जाते हैं और इस वर्षा के अन्त कार्तिक मास में जागते हैं। यह समझा देने से मूर्ख प्रजाओं के बारम्बार क्लेशजनक प्रश्नों के झंझट से अपने को आचार्यों ने बचा लिया हो और उनके सन्तोषार्थ उत्सव भी आरम्भ कर दिया हो। क्रमशः यह पर्व सर्वत्र फैल गया हो। इस प्रकार इसकी उत्पत्ति की सम्भावना है, क्योंकि भगवान् को शयन करवाने का अभिप्राय यही हो सकता है कि अभी वह जगत् की रक्षा नहीं कर रहे हैं, इस हेतु अराजक राज्यवत् इसमें उपद्रव हो रहा है। इत्यादि।

दूसरा कारण इसमें सूर्यदेव ही प्रतीत होते हैं। सम्पूर्ण वर्ष वह बड़े परिश्रम से कार्य करते हैं और अपने अप्रधर्ष्य प्रचण्ड तेज से मेघ की घटा को स्थिर नहीं होने देते। वर्षा आते ही सूर्य की शक्ति कम भासित होने लगती है। मेघ उन्हें घेर लेता है। अज्ञानीजन इससे समझते हैं कि इस समय सूर्य शयन कर रहा है, अतः इसका तेज कम हो गया है। इसी हेतु मेघ प्रबल हो जगत् में धूम मचा रहा है। कार्तिक में पुनः सूर्य प्रचण्ड होने लगते हैं। लोगों ने समझा कि सूर्य भगवान् अब जाग उठे। जब सूर्यस्थानीय एक विष्णु पृथक् कल्पित हुए तब यह गुण भी इनमें स्थापित किया गया। इस प्रकार

आलोचना से विष्णु के शयन और उत्थापन का पता लगता है। हे आर्यविद्वानो! विष्णु-सम्बन्धी प्रायः सभी आख्यायिकाएँ गुण-कर्म-स्वभाव आदि धर्म हमें इतिहास की रीति पर सूचित करते हैं कि यह विष्णु सूर्य स्थानीय हैं, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं।

मत्स्यादि अवतार

इस समय केवल विष्णु का निर्णय करना आवशक था। वह हो चुका। इसमें सन्देह नहीं कि धीरे-धीरे विष्णु के सम्बन्ध में बहुत-सी कथाएँ समय-समय पर बनती गईं जो सूर्य से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती। आप लोग विचारें कि जब साक्षात् महाविष्णु भगवान् ही कोई भिन्न देव सिद्ध नहीं होते, जब ये ही आलङ्कारिक और सूर्य-प्रतिनिधि सिद्ध हो चुके तब कब सम्भव है कि इनके अवतार सत्य, यथार्थ सिद्ध हों। 'अवतार-निर्णय' में अवतारों की आलोचना करेंगे। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि—

एतन्नानावताराणां निधीनां बीजमव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्य्यङ् नरादयः॥ —१/३/५॥

यही विष्णु नानावतारों के कारण हैं। विज्ञानी पुरुषो! आप लोगों को इस उपदेश से अवश्य प्रतीत हो गया होगा कि यह विष्णु कोई देवता नहीं है, जिसकी पूजा देश में प्रचलित है, वह केवल कल्पित प्रतिनिधि है। इस हेतु हे विद्वानों! जो नानावतारों का बीज माना गया है वही खपुष्पवत् मिथ्या सिद्ध होता है, तब इसके अवतार तो सर्वथा मिथ्या ही सिद्ध होंगे, इसमें सन्देह ही क्या।

शुभमस्तु वः॥

इति श्रीमिथिलादेश-निवासि-शिवशङ्कर-शर्मकृते
त्रिदेव-निर्णये विष्णु-निर्णयः समाप्तः

अथ चतुर्मुख=ब्रह्मा निर्णय

''ब्रह्मा—वायु''

यद्यपि सूर्य हमारी पृथिवी से कई करोड़ क्रोश दूर स्थित है तथापि इसके बिना हमारी पृथिवी का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। सूर्य के उदय होते ही पृथिवी पर कैसे आनन्दाब्धि का प्रवाह प्रवाहित होने लगता है। जीवमात्र चेतन हो उठते हैं। विविध प्राकृत उपद्रव शान्त हो जाते हैं। अन्धकारासुर की निवृत्ति होते ही प्रकाश से पृथिवी शोभायमान और प्रज्वलित होने लगती है। मित्र मिलकर आनन्दित होते हैं। इतना ही नहीं, सूर्य की उष्णता से पृथिवी पर महापरिवर्तन होता रहता है। आप लोग देखते हैं कि आर्यावर्त्त की भूमि पर प्राय: सर्वत्र फाल्गुन–चैत्र से वायु अधिक ज़ोर से चलने लगता है। वैशाख–ज्येष्ठ में प्रचण्ड रूप धारण करता है। कभी–कभी ऐसी आँधी चलती है कि ग्राम के अधिकांश छप्पर गिर पड़ते हैं। सहस्त्रों वृक्ष टूटकर गिर जाते हैं। उष्ण–प्रधान प्रदेश में यात्रा करना अति कठिन हो जाता है। धूल इतनी उड़ती है कि उस प्रदेश में यात्रा करना अति कठिन हो जाता है। धूल के तले दबकर आदमी मर जाते हैं। रेगिस्तान में यह दृश्य बहुधा देखने में आता है। ऊँट–समान लम्बे जन्तु भी धूलि में दबकर मर जाते हैं। कभी–कभी वर्षा के प्रारम्भ में बड़े जोर से आँधी, पानी और ओले आते हैं। यह बड़ी भयंकर और उपद्रव करनेवाली होती है। इस सबका कारण सूर्य ही है। वायु पृथिवी पर भरा हुआ है। यद्यपि यह आँखों से दृष्टिगोचर नहीं होता, परन्तु इसकी क्रिया बच्चे को भी प्रतीत होती है। जैसे सामुद्रिक वारि के अभ्यन्तर मत्स्यादि जल–जन्तु निवास करते हैं तद्वत् हम लोग वायु के अभ्यन्तर रहते हैं। कई सौ मन वायु का बोझ हम लोगों पर प्रतिक्षण रहता है। आप यह भी देखते हैं कि सूर्य अस्त हो जाता है। चन्द्र सर्वदा दृश्य नहीं होता। ताराएँ दिन में निस्तेज हो जाती हैं। अग्नि भी शान्त हो जाता है, परन्तु वायु प्रतिक्षण विद्यमान रहता है। यह पल–पल अपना काम करता है। यह ठहरता नहीं। इसी प्रकार आभ्यन्तरिक चक्षु, श्रोत्र, कर्ण, घ्राण, मन, चित्त, बुद्धि सभी थक जाते हैं, सो जाते हैं, परन्तु प्राणवायु सदा चलता

रहता है। यह सोता नहीं, विश्राम नहीं लेता। यह कल्पान्तक अपना काम करता हुआ चला जाता है। इस हेतु वायु का दिन बहुत बड़ा होता है। इसके बिना हम चेतन क्षणमात्र नहीं जी सकते हैं। स्थावर भी इसके बिना जीवित नहीं रह सकते। अग्नि तो इसको छोड़ ही नहीं सकता। यह वायु महान् देव है॥

आप स्थूलदृष्टि से ही विचारें कि यह उत्पन्न कैसे होता है? ग्रीष्म में इसकी वृद्धि होती है। जहाँ जङ्गलादि स्थानों में दावानल लगता है, वहाँ वायु प्रचण्ड हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि उष्णता से इसकी वृद्धि होती रहती है। आप देखेंगे कि घनीभूत होकर भूवायु भूमि पर लगभग द्वादश योजन ऊर्ध्व तक भरा हुआ है। सूर्य की तीक्षण और उष्ण किरणें जब इसके बीच में प्रविष्ट होने लगती हैं, तब वायु छिन्न-भिन्न होकर इधर-उधर चलना आरम्भ होता है। वायुमिश्रित जल भी सूखने लगता है। इस हेतु वायु हलकी और वेगवान् हो चारों ओर विस्तृत होने लगता है। इसी हेतु 'वायु' को सूर्यपुत्र कहते हैं और सूर्यकिरण पड़ने से जिस हेतु चारों दिशाओं में फैलता है, इस हेतु इसको 'चतुर्मुख' कहते हैं। इसमें और भी विलक्षणता देखते हैं कि यही शब्द को पहुँचानेवाला है। यदि वायु न हो तो हम लोग शब्द नहीं सुन सकते हैं, परन्तु हमारे मुख से किसकी सहायता से शब्द की उत्पत्ति होती है? निःसन्देह आभ्यन्तरिक प्राणवायु की सहायता से वाणी निकलती है। आभ्यन्तरिक प्राण भी एक प्रकार का वायु ही है। इन दोनों में यदि भेद है तो किंचिन्मात्र का ही भेद है। इस हेतु आभ्यन्तरिक वायु प्राण को उत्पन्न करता है और बाह्य वायु इसको ग्रहण कर लेता है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, परन्तु ये दोनों वायु एक ही हैं। इसी कारण कहा जाता है कि वायु अपनी दुहिता को ग्रहण करता है, क्योंकि वाणी वायु से उत्पन्न होती है। इस हेतु इसकी दुहिता हुई और पुनः वायु ही इसको ग्रहण कर लेता है, इस हेतु अपनी दुहिता को वायु ग्रहण करता है। यह अलङ्काररूप से कहा जा सकता है। यह प्रकृति का एक दृश्य है। वायु का न कोई पुत्र है और न कोई पुत्री। यह वर्णन अलङ्कार-मात्र है। इससे सिद्ध हुआ कि जिसको वाक् वा वाणी वा सरस्वती वा शब्द वा भाषा कहते हैं वह वायु की शक्ति है, अर्थात् वायु का गुण व धर्म है। हम वन में देखते हैं कि वंश के छिद्र से शब्द निकलता रहता है। जल-प्रवाह में शब्द होता रहता है। यदि कोई ऐसा यन्त्र प्रस्तुत किया जाए जिससे वायु बिलकुल निकाल लिया

जाए और उस यन्त्र के अभ्यन्तर में एक घण्टी रख दी जाए और किसी युक्ति से इसको हिलाया जाए। तब परीक्षा हो जाएगी कि वायु के बिना शब्द फैल सकता है या नहीं। ऐसा यन्त्र बनाकर परीक्षा ली गई। ऐसे यन्त्र में घण्टी कितनी ही हिलाई जाए शब्द नहीं निकलता। इससे वाणी=सरस्वती वायु की शक्ति है, ऐसा कहा जा सकता है।

हम अभी लिख चुके हैं कि सूर्य के कारण वायु बहुत वेगवान् हो जाता है। इससे वायु का वाहन सूर्य है, ऐसा भी कह सकते हैं। सूर्य को वैदिक और लौकिक दोनों भाषा में 'हंस' कहते हैं। इस हेतु वायु का वाहन हंस है, यह भी कह सकते हैं और वायु इसमें सन्देह नहीं कि प्रतिक्षण सृष्टि करता है। सर्वत्र प्रविष्ट होकर सबको रच रहा है। इसी हेतु इसको 'मातरिश्वा' कहते हैं। माता, अर्थात् निर्माण करनेवाली जितनी शक्तियाँ हैं, उनमें प्रविष्ट होकर श्वास-प्रश्वास देनेवाला यही वायु है। इस हेतु इसको धाता, विधाता, स्रष्टा आदि नामों से भी पुकार सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं तो वायु के सर्वगुण ब्रह्मा में संघटित होते हैं, इस कारण निःसन्देह ब्रह्मा वायुस्थानीय है। आगे इस बात को अनेक प्रमाणों से सिद्ध करेंगे। ब्रह्मा केवल वायुस्थानीय ही नहीं, किन्तु ब्रह्मा नामक ऋत्विक् स्थानीय भी है। आगे के प्रमाणों से यह सब विषय सिद्ध होगा।

ब्रह्मा नामधेय

जैसे वेदों में विष्णु, रुद्र, आदित्य, सूर्य, अग्नि, वायु, नदी, उषा, अहोरात्र, द्यावापृथिवी प्रभृति नामों से अनेक देवता वर्णित हैं, वैसे प्रायः ब्रह्मा नाम का किसी मन्त्र का कोई देवता नहीं है। वेद में यह ब्रह्मन् (शब्दस्तोत्र) वेद, ऋत्विक्, परमात्मा, तपस्या आदि अनेक अर्थों में आया है, परन्तु किसी देवताविशेष अर्थ में इसका प्रयोग नहीं पाया जाता। पुनः जैसे अनेक मन्त्रों के द्वारा, विष्णु, इन्द्र, वायु, मित्र, अर्यमा, वरुण, अदिति, द्यौ, पृथिवी, रुद्र आदि शब्दवाच्य देवता की स्तुति-प्रार्थना आती हैं, वैसे 'ब्रह्म' की कोई स्तुति-प्रार्थना नहीं आई है। इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मन् शब्द का प्रयोग भी वेद में बहुत आया है, यथा—

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानः। —*यजुः० १८/४९*

सोमानꣳ स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। —*यजुः० ३/२८*

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्। —*यजुः० ३२/१६*

इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति। —*अथर्व० १।३२।१*

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत्क्रियमाणम्।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति॥

—*अ० २।१२।६*

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्। —*अ० ४।१।१*

तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः।

—*अ० ५।१८।८*

ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना। —*अ० ५।१९।८*

यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद्देवैर्विदितं पुरा।
यद् भूतं भव्यमासन्वत्तेना ते वारये विषम्॥

—*अथर्व ६।१२।२*

यद्यपि वायु अर्थ में इसका प्रयोग नहीं है, परन्तु हो सकता है, क्योंकि यह शब्द विशेषण है। महान् को ब्रह्म वा ब्रह्मा कहते हैं। संस्कृत में इसका स्वरूप "ब्रह्मन्" है, पुंल्लिङ्ग में ब्रह्मा और नपुंसक में 'ब्रह्म' हो जाता है। यह उभयलिङ्ग है। वेदों में सब अर्थ में दोनों प्रकार के प्रयोग हैं, परन्तु पिछले संस्कृत में "**वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः**" वेद, तत्त्व, तप, और परमात्मा में नपुंसक और ब्राह्मण, प्रजापति में पुल्लिङ्ग होता है। आजकल आर्य-भाषा में ईश्वरार्थ में ब्रह्म अन्यत्र ब्रह्मा कहते हैं। ईश्वर सबसे महान् है, अतः ईश्वर में इसकी मुख्यता है। वेद भी बड़ा है, अतः वह भी ब्रह्म है। वेद का अध्ययन करनेवाला वा ब्रह्मवाच्य परमात्मा को जाननेवाला भी महान् है, अतः इसका भी नाम ब्रह्मा है। इसी प्रकार स्तोत्र, तपस्यादि का नाम ब्रह्मा है, अतः इस अर्थ में वायु का नाम ब्रह्मा कह सकते हैं। कोई क्षति नहीं। इस हेतु सम्भव है कि कल्पित देव का नाम ब्रह्मा रक्खा हो, क्योंकि जब यह स्रष्टा हुआ तब इसको महान् बनाना आवश्यक है। ब्रह्मन् शब्द सबसे महत्त्व सूचक है, परन्तु इसका ब्रह्मनाम होने का अन्य कारण भी पाया जाता है।

ब्रह्मा ऋत्विक्

मैं प्रथम कह चुका हूँ कि यह ब्रह्मा केवल वायु स्थानीय ही नहीं, किन्तु ब्रह्मा नाम का जो ऋत्विक् होता है, उसका भी यह प्रतिनिधि है। इसमें कारण यह है कि ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता कहे गये हैं, परन्तु वेदों के बिना सृजन नहीं हो सकता, इस हेतु वेदों के भी प्रकाशकर्त्ता ब्रह्मा कहे गये हैं, जिसकी सहायता से इन्होंने सृष्टि की।

अब जो चारों वेदों को जाने और उनका प्रयोग भी अच्छी प्रकार कर सके, वैदिक भाषा में उस ऋत्विक् का नाम ब्रह्मा प्रथम से ही विद्यमान है। इसी कारण जब एक पृथक् देव कल्पित हुआ तब इसका नाम ब्रह्मा रक्खा गया, क्योंकि इनको चतुर्वेदवित् बनाना है तभी यह सृष्टि कर सकते हैं और यथोचित पदार्थों के नाम भी रख सकते हैं और जैसे ऋत्विक् ब्रह्मा वेदों के अर्थ जान यज्ञ में विविध प्रयोगरूप सृष्टि करता है तद्वत् यह भी वेदार्थ जान तदनुसार जगत् रचना करते हैं। इत्यादि कारण से इस कल्पित देव का नाम ब्रह्मा रक्खा गया। ऋत्विक् ब्रह्मा चतुर्मुख इस हेतु है कि (चत्वारो वेदा मुखे यस्य स चतुर्मुखः) जिसके मुख में चारों वेद हों वह चतुर्मुख। यहाँ मध्यमपदलोपी समास हुआ। जब ऋत्विक् के स्थान में एक पृथक् देव कल्पित हुआ तो यहाँ 'चत्वारि मुखानि यस्य' चार मुख हैं जिसके, वह चतुर्मुख है, ऐसा समास कर ब्रह्मा को चार मुख दिये गये। इस प्रकार ब्रह्मा में दो गुणों के होने की आवश्यकता के कारण वायु और ब्रह्मा ऋत्विक्—इन दोनों के गुण इसमें स्थापित किये गये हैं। अब आगे के प्रमाणों से आप लोगों को अवश्य विदित होगा कि प्रधानतया ब्रह्मा वायु के स्थान में रचित हुआ है।

ब्रह्मा की उत्पत्ति और चतुर्मुख

उदप्लुतं विश्वमिदं तदासीद्यन्निद्रयामीलितदृङ् न्यमीलयत्।
अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकःकृतक्षणः स्वात्मरतावनीहः॥ १०॥
तस्यार्थसूक्ष्माभिनिविष्टदृष्टेरन्तर्गतोऽर्थो रजसा तनीयान्।
गुणेनकालानुगतेन विद्धः सूष्यंस्तदाभिद्यत नाभिदेशात्॥ १३॥
स पद्मकोशैः सहसोदतिष्ठत् कालेन कर्मप्रतिबोधितेन।
स्वरोचिषा तत्सलिलं विशालं विद्योतयन्नर्क इवात्मयोनिः॥ १४॥
तस्मिन्स्वयं वेदमयो विधाता स्वयंभुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत्॥ १५॥
परिक्रमन् व्योम्नि विवृत्तनेत्रश्चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि॥ १६॥

—भागवत तृतीयस्कन्ध अध्याय ८॥

इसका भाव यह है कि जब आदिदेव भगवान् इस सृष्टि को समेटकर अपने उदर में स्थापित कर समुद्र में अनन्तनागरूप तल्प पर शयन करते थे, उस समय यह विश्व जलमय था। कुछ समय के अनन्तर भगवान् के नाभिदेश से एक पद्म (कमल) निकला। वह सूर्यवत् विशाल जल को प्रकाशित करने लगा। उस कमल से वेदमय ब्रह्मा उत्पन्न हुए जिनको स्वयंभू कहते हैं और आकाश में

परिक्रमा करते हुए ब्रह्माजी को दिशाओं के बराबर चार मुख प्राप्त हुए। इस प्रकार ब्रह्मा की उत्पत्ति विस्तारपूर्वक श्रीमद्भागवत में कथित है।

भाव इसका इतना ही है कि विष्णु के नाभि से एक कमल निकलकर समुद्र के जल के ऊपर तैरने लगा, उससे चतुर्मुखः ब्रह्मा उत्पन्न हुए।

एतस्मिन्नन्तरे तत्र सस्त्रीकश्च चतुर्मुखः।
पद्मनाभेर्नाभिपद्मान्निःससार महामुने॥ ७८॥
कमण्डलुधरः श्रीमांस्तपस्वी ज्ञानिनां वरः।
चतुर्मुखैस्तं तुष्टाव प्रज्वलन् ब्रह्मतेजसा॥ ७९॥[1]
तन्नाभिकमले ब्रह्मा बभूव कमलोद्भवः।
सम्भूय पद्मदण्डे च बभ्राम युगलक्षकम्॥ ५३॥
नान्तं जगाम दण्डस्य पद्मनालस्य पद्मजः॥[2] इत्यादि

देवीभागवत नवमस्कन्ध में ब्रह्मा की उत्पत्ति की कथा विस्तार से वर्णित है।

भाव यह है कि इतने ही में नारायण के नाभिपद्म से स्त्रीसहित चतुर्मुख ब्रह्मा प्रकट हुए और चारों मुख से उसकी स्तुति-प्रार्थना करने लगे। ब्रह्माजी नाभिकमल से निकल कर सहस्त्रों युग तक उसी में भ्रमण करते रहे, परन्तु उसका अन्त नहीं पाया इत्यादि।

यह कथा सर्वत्र प्रसिद्ध है। आजकल चित्र में भी देखते हैं कि विष्णु भगवान् समुद्र में सर्प के ऊपर सो रहे हैं। लक्ष्मी चरण सेवा कर रहीं हैं। नाभि से एक पद्म निकला हुआ है। उसके ऊपर चतुर्मुख श्री ब्रह्माजी बैठकर सृष्टि रच रहे हैं।

विवेकी पुरुषो! अब आप लोग ध्यान से विचार करो कि इसका आशय क्या है? ब्रह्मा कौन है? क्या यथार्थ में ऐसी घटना हुई या यह कल्पित है? प्रिय विद्वानो! यह केवल वायु का वर्णन है। प्रथम वर्णन हो चुका है कि विष्णु नाम सूर्य का है। समुद्र नाम आकाश का है, सूर्य की किरणें मानो कमलनाल हैं। विष्णु (सूर्य) समुद्र (आकाश) में शयन कर रहा है। उसके मध्य से किरणरूप कमलनाल समुद्र=अन्तरिक्ष (आकाश) में आ निकला, अर्थात् सूर्य की उष्णता अन्तरिक्ष में आकर फैलने लगी। यह उष्णता का फैलना, मानो, कमल-कुसुम का प्रकट होना है। उस उष्णता से और क्या उत्पन्न

---

१. देवीभाग० ९।२।७८-७९　　　　२. वही ९।३।५३-५४

हुआ? वायु। वह वायु कैसा हुआ? चतुर्मुख। यहाँ पर भी वही समास है जो 'चतुर्मुख' में दिखलाया है। अर्थात् "**चतसृषु दिक्षु मुखं यस्य सः चतुर्मुखो वायुः**" चारों दिशाओं में मुख है जिसका वह चतुर्मुख, अर्थात् वायु। जब वायु के स्थान में एक अन्य देवता कल्पित हुआ उस समय इसमें इस प्रकार समास हुआ है कि [चत्वारि मुखानि यस्य स चतुर्मुखो ब्रह्मा], जिसके चार मुख हों वह चतुर्मुख। इस प्रकार समास करके पाण्डित्य के बल से ब्रह्मा को चार मुख दिये गये। आप लोग बुद्धिमान् हैं विचारें कि ब्रह्मा चतुर्मुख ही क्यों माना गया। इसमें अन्य कोई विशेषता नहीं। मुख की ही विशेषता है। विष्णु में बाहु की और रुद्र में नेत्र की विशेषता है। इसमें संशय नहीं कि ब्रह्मा में मुख की ही विशेषता होनी चाहिए, क्योंकि यह वायुस्थानीय है। आप देखते हैं कि वायु अदृश्य वस्तु है। इसमें सूर्य के समान किरण नहीं कि जिसका कर वा पाद वा चरण कह कर वर्णन किया जाए। इसमें प्रत्यक्ष अग्निवत् कोई अन्य तेज भी नहीं कि वह जटाजूट कहा जाए, परन्तु इसमें केवल मुख की प्रधानता है। वायुरूप जो एक देवता है मानो उसके चारों ओर मुख हैं। जब जैसा चाहता है तब वैसा हो जाता है। कभी पूर्वाभिमुख, कभी पश्चिमाभिमुख, कभी उत्तराभिमुख, कभी दक्षिणाभिमुख। इस प्रकार देखते हैं कि 'वायु' ही चतुर्मुख है। जब इसके स्थान में एक पृथक् देव कल्पित हुए तब इसमें भी वे ही गुण-कर्म-स्वभाव स्थापित किये गये। इसी हेतु वायुस्थानीय ब्रह्मा चतुर्मुख है। चतुर्मुख शब्द और इसकी उत्पत्ति-प्रकार हमें सूचित करता है कि यह ब्रह्मा वायुदेव का प्रतिनिधि है। इसमें सन्देह नहीं।

ब्रह्मा और ब्रह्मा की कन्या

वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयंभूर्हरतीं मनः ।
अकामां चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम्॥ २८ ॥
तमधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः ।
मरीचिमुख्या मुनयो विस्रम्भात्प्रत्यषेधयन्॥ २९ ॥
नैतत्पूर्वैः कृतं त्वद्य न करिष्यन्ति ये परे।
यः स्वां दुहितरं गच्छेरनिगृह्याङ्गजं प्रभुः॥ ३० ॥
तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यं जगद्गुरो।
यद् वृत्तमनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पते॥ ३१ ॥

तस्मै नमो भगवते य इदं स्वेन रोचिषा।
आत्मस्थं व्यंजयामास स धर्मं पातुमर्हति॥ ३२॥

—श्रीमद्भागवत ३।१२

विदुर और मैत्रेयजी का यह संवाद है। भागवत तृतीयस्कन्ध सृष्टिप्रकरण में यह उपाख्यान आया है। सृष्टि करते-करते ब्रह्माजी ने वाक्, अर्थात् सरस्वती को भी उत्पन्न किया। हे विदुर! हम लोगों ने सुना है कि वह स्वयंभू सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माजी सकामः=कामयुक्त हो मन को हरण करती हुई अकामा दुहिता (वाचम्) वाणी=सरस्वती को (चक्रमे) चाहने लगे। २८। (तम्+अधर्मे कृतमतिम्) अधर्म में बुद्धि करते हुए अपने पिताजी को देख उन्होंने ब्रह्माजी को वर्जित किया॥ २९॥ इस प्रकार वे मुनि अपने पिता से बोले—हे जगद्गुरो! (नैतत्पूर्वैः) न पूर्व में ऐसे कोई हुए और न आगे होंगे और न आज कोई हैं जो अपने अङ्गजकाम को न रोक कर अपनी दुहिता का ग्रहण करेंगे। ३०। हे जगद्गुरो! तेजस्वी देवता के लिए भी यह कार्य यशोदायक नहीं। जिनके आचरण के अनुसार अनुष्ठान करके लोक कल्याण भागी होते हैं यदि वे ही अनुचित काम करेंगे तो धर्मानुष्ठान नष्ट हुआ। ३१। उस भगवान् ब्रह्मा को नमस्कार हो जिसने अपनी दीप्ति से आत्मस्थ जगत् को प्रकट किया है। वह ब्रह्मा स्वस्थापित धर्म का पालन करे॥ ३२॥

स इत्थं गृणतः पुत्रान् पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन्।
प्रजापतिपतिस्तन्वीं तत्याज व्रीडितस्तदा।
तां दिशो जगृहुर्घोरां नीहारं यद्विदुस्तमः॥ ३३॥[1]

इस प्रकार स्तुति करते हुए आगे खड़े मरीचि प्रभृति प्रजापतियों को (जो विवाह करके सन्तान उत्पन्न करनेवाले सृष्टि के आदि में हुए वे भी प्रजापति कहलाते हैं) देख परम लज्जित हो प्रजापति ब्रह्माजी ने अपनी तन्वा को छोड़ दिया।

प्रजापति का अपनी दुहिता पर मोहित होने की कथा अन्य पुराणों में भी उपलब्ध होती है। यह परम प्रसिद्ध आख्यायिका है। पुष्करतीर्थ में इस लीला की मूर्त्ति भी विद्यमान है। भारतवर्ष में प्रायः यहाँ ही ब्रह्माजी का मन्दिर है। विचारशील पुरुषो! इसका क्या भाव है? क्या ब्रह्माजी ने ऐसा अनुचित कार्य किया? नहीं, नहीं। ब्रह्मा

---

१. भागवत ३।१२।३३

कोई व्यक्ति विशेष पुरुष का नाम यहाँ नहीं है। ब्रह्मा नाम यहाँ वायु का है। वायु में ही यह घटना घटती है। देखिए—यहाँ कहा गया है कि ब्रह्मा ने 'वाक्' को उत्पन्न किया। 'वाक्' को संस्कृत में, ब्राह्मी, भारती, गिरा, वाक्, वाणी, सरस्वती कहते हैं (ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग् वाणी सरस्वती) टीकाकार भी यहाँ कहते हैं कि जिसको ब्रह्मा ने त्याग दिया वह निज भार्या सरस्वती नहीं है तो कौन है? कहते हैं शंका मन्द है, अर्थात् इसका तत्त्व टीकाकार को विदित नहीं है तथापि टीकाकार एक श्लोक उद्धृत करके परिहार करते हैं—

यां तत्याज विभुर्ब्रह्मा मानुषी वाक् तु सा स्मृता।
सरस्वती निजा भार्या दैवीं वातं तु तां विदुः॥

जिसको ब्रह्मा ने त्यागा वह मानुषी वाक् है। जो अपनी भार्या सरस्वती है वह दैवी वाणी कहलाती है। वाणी की उत्पत्ति वायु से होती है और वायु ही इसको पुनः ग्रहण कर लेता है। भीतर की वायु की सहायता से वाणी उत्पन्न होती है और पुनः बाहरी वायु में समा जाती है।

आप देखते हैं कि मुखसे जो वाणी निकलती है वह कहाँ चली जाती है? निःसन्देह बाहरी वायु में लीन हो जाती है, परन्तु भीतर की वायु यदि इसे उत्पन्न न करे तो इसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, परन्तु बाह्य और आन्तरिक वायु दोनों एक ही हैं। अब विचारें कि वायु एक महान् देव है। इसने परम मोहिनी वाणी को भीतर से प्रकट किया। मानो इसकी मधुरता देख इसको अपने ही में मिला लिया। वाणी का स्वभाव ही है कि उत्पन्न होकर वायु में मिलकर नष्ट हो जाए। जिस हेतु वायु से यह वाणी उत्पन्न होती है इस हेतु मानो यह इसकी कन्या के समान है और पुनः इसको अपने में लीन कर लेता है। यही मानो इसका अनुचित व्यवहार है। यह केवल आलङ्कारिक वर्णन है। वायु की न कोई कन्या है, न भाई है, न बाप है। इसके सम्बन्ध का जो कुछ वर्णन होता है यह केवल अलङ्काररूप से होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि यह वायु और सरस्वती (वाणी=वाक्) का वर्णन है। जब वायु के स्थान में ब्रह्मा नाम के देव कल्पित हुए तब यह गुण इनमें भी स्थापित हुआ। वहाँ वाक् का केवल वाण=शब्द अर्थ था। यहाँ अज्ञानतावश लोग यथार्थ पुत्री वा कन्या समझने लगे और इसको इतना बढ़ा दिया

कि इसके नाम से मन्दिर आदि भी बनाने लगे। एवमस्तु। यह आख्यायिका भी हमें दरसाती है कि ब्रह्मा वायुस्थानीय है।

ब्रह्मा और गायत्री—सावित्री

[1]पवित्ररूपा सावित्री गायत्री ब्रह्मणः प्रिया।

—दे०भा० ९।१

सावित्री वामपार्श्वस्था दक्षिणस्था सरस्वती।

—कालिका पु० ८२

शतरूपा च सा ख्याता सावित्री च निगद्यते।
सरस्वत्यथ गायत्री ब्रह्माणी च परन्तप॥

—मत्स्यपु० ३

इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि ब्रह्मा की दो स्त्रियों का वर्णन पुराणों में आया है। एक सावित्री और दूसरी सरस्वती। 'सावित्री' को ही 'गायत्री' कहते हैं, क्योंकि गायत्री ऋचा का देवता सविता है।

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥

—मनु० २।७

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्॥

—मनु० २।८१

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परन्तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनत्सत्यं विशिष्यते॥

—मनु० २।८३

मनुस्मृति के इन श्लोकों से सिद्ध है कि गायत्री का ही नाम सावित्री है। मनुजी ने प्रायः 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इस गायत्री ऋचा के लिए सर्वत्र 'सावित्री' शब्द का प्रयोग किया है। इस ऋचा को 'गायत्री' इस हेतु कहते हैं कि इसका छन्द 'गायत्री' है और 'सावित्री' इस हेतु कहते हैं कि इस ऋचा का देवता सविता है 'सावितादेवता यस्याः सा सावित्री' परन्तु पुराणों में इस सावित्री से तो तात्पर्य नहीं था, किन्तु सविता की जो सूर्यशक्ति है, उसे 'सावित्री' कहते हैं।

---

१. देवी भा० ९।१।४०

'सवितुः सूर्यस्येयं सावित्री' इस सूर्यशक्ति सावित्री से प्रथम पौराणिक तात्पर्य था, परन्तु धीरे-धीरे पौराणिकों ने अविद्यावश खूब खिचड़ी पकाई है। जो इसका प्रथम रचयिता था उसका भाव पीछे विस्मृत हो गया। इस हेतु यह सब कठिनाई उपस्थित हुई। जैसे ब्राह्मणग्रन्थ और मनुस्मृत्यादि में ये दोनों गायत्री और सावित्री शब्द एकार्थ में प्रयुक्त हुए हैं, वैसे ही पौराणिकों ने भी प्रयोग किया और एक ही देवी का नाम कहीं गायत्री और कहीं सावित्री रखते हैं, परन्तु कहीं पर इससे विरुद्ध भी पाते हैं। एवमस्तु। पौराणिक लीला विचित्र है।

गायत्री से ब्रह्मा का विवाह

पद्मपुराण सृष्टिखण्ड षोडशाध्याय में यह कथा है कि पुष्कर-तीर्थ में ब्रह्माजी यज्ञ करने लगे। जब सब पदार्थ प्रस्तुत हो गये तब ऋत्विकों ने ब्रह्मा की स्त्री यजमानी सावित्री को बुलाने के लिए दूत भेजा। सावित्री उस समय कार्य में व्यापृत थीं, इस हेतु उसने कहा—

इह मे न कृतं किञ्चिद् द्वारे वै मण्डनं मया।
भित्यां वै चित्रकर्माणि स्वस्तिकं प्राङ्गणे न तु॥
लक्ष्मीर्नाद्यापि आयाता सती नैवेह दृश्यते।
महताऽऽग्रहेणाऽऽहूता शक्राणी नाऽऽगता त्विह॥
मेधाश्रद्धा विभूतिश्च अनसूया धृतिःक्षमा।
गङ्गासरस्वती चैव नाद्याऽऽगच्छन्ति कन्यकाः॥
ब्रूहि गत्वा विरञ्चिं तं तिष्ठ तावन्मुहूर्तकम्।
[1]सर्वाभिः सहिता चाहमागच्छामि त्वरान्विता॥

— पद्मपुराण ११५-१२४

अभी मैंने घर में कुछ नहीं किया है। द्वार का मण्डन नहीं हुआ। भीत पर चित्र अभी तक नहीं हुए। प्राङ्गण में स्वस्तिक नहीं लिखा है। अभी लक्ष्मी व पार्वतीजी नहीं आई हैं। बड़े आग्रह से इन्द्राणी बुलाई गई हैं, वह भी नहीं आई हैं। मेधा, श्रद्धा, विभूति, गङ्गा, सरस्वती आई हैं। जाकर ब्रह्मा से कहो कि एक मुहूर्त्त ठहरें। अभी सब देवियों के साथ आती हूँ।

दूत ने ऐसा ही जाकर कहा। ब्रह्माजी एक मुहूर्त्त भी नहीं सह सके। इन्द्र से कहा कि शीघ्र मेरे लिए दूसरी पत्नी ले-आओ। इन्द्रजी

---

१. वेङ्कटेश्वर प्रेस द्वारा मुद्रित पद्मपुराण में पाठभेद है। —जगदीश्वरानन्द

एक गोपकन्या को ले-आये। विष्णु ने कहा कि इससे शीघ्र गन्धर्वविवाह की रीति से विवाह कर लीजिए। ऐसा ही ब्रह्माजी ने किया। पश्चात् सावित्री रुष्टा होकर चली गई। ब्रह्माजी का यज्ञ रुक गया। पुनः सावित्री की बहुत-सी प्रार्थना कर यज्ञ में ले-आये।

तत्राऽऽयाता च सा देवी सावित्री ब्रह्मणः प्रिया॥ ६५॥
सावित्रीं संमुखीं दृष्ट्वा सर्वलोकपितामहः।
गायत्र्यासहितो ब्रह्मा इदं वचनमब्रवीत्॥ ६६॥
एषा देवी कर्मकरी अहं ते वशगः स्थितः।
मामादिश वरारोहे यत्तु कार्यं मया त्विह॥ ६७॥
एवमुक्ता तु सावित्री स्वयं देवेन ब्रह्मणा।
त्रपयाऽधोमुखी देवी न वक्तुं किञ्चिदिच्छति॥ ६८॥
पादयोःपतिता तस्या गायत्री ब्रह्मचोदिता॥ ६९॥ इत्यादि।

—पद्म० सृष्टिखण्ड अध्याय ३४

देव-देवियों से प्रार्थना होने पर ब्रह्मा की प्रिया सरस्वती देवी वहाँ आई। सरस्वती को सम्मुख स्थित देख गायत्रीसहित ब्रह्मा बोले—प्रिय! यह गायत्री तेरी दासी है। मैं तेरे वश में सदा स्थित हूँ। जो आप आज्ञा करें मैं उसे करने को सदा प्रस्तुत हूँ। इस प्रकार ब्रह्मा से प्रार्थिता सावित्री लज्जा से अधोमुखी हो गई। ब्रह्मा के कहने से गायत्री सावित्री के चरणों पर गिर पड़ी। इत्यादि कथा पद्मपुराण में विस्तार से कथित है।

इस कथा से विस्पष्ट भाव निःसृत होता है कि सावित्री ही ब्रह्मा की मुख्य पत्नी है, गायत्री नहीं। कविवरो! यहाँ यह विचार करो कि एक मुहूर्त्त ब्रह्माजी सावित्री के लिए ठहर नहीं सके और इन्द्र एक कन्या को खोज लाये। सब देवों की सम्मति हुई। पश्चात् इससे विवाह हुआ। क्या इसमें एक मुहूर्त्त समय नहीं लगा। अर्वाचीन पौराणिक लोग कभी-कभी शिशुवत् क्रीड़ा करते हैं॥

सावित्री-कथा का आशय

ब्रह्माजी की पत्नी [पालयित्री शक्ति] सावित्री है। इसका आशय अतिशय सरल है। 'सावित्री' शब्द के अर्थ जानने से ही इसका भाव प्रकाशित हो जाता है। [सवितुः सूर्यस्य इयं सावित्री] सविता= सूर्य की शक्ति को सावित्री कहते हैं। यहाँ सूर्य की जो उष्णता है उसका ग्रहण है। सूर्य की उष्णता सूर्य से उत्पन्न होती है, इस हेतु

मानों वह सूर्य की कन्यावत् है। यह सूर्य इस उष्णतारूप सावित्री को वायु को देते हैं। इस सावित्री को पाकर वायुदेव शक्तिसम्पन्न हो जगत् की सृष्टि करते हैं। इस उष्णता-रूपा सावित्री के बिना वायुदेव कुछ नहीं कर सकते। इस हेतु वायु की द्वितीय स्त्री सावित्री, अर्थात् सूर्य की उष्णता है, परन्तु वायु की मुख्य शक्ति सरस्वती ही है। अब आप विचार करें कि ब्रह्मा की पत्नी सावित्री कैसे बनी ? वायुस्थानीय ब्रह्मा जब पृथक् देव कल्पित हुआ तब आवश्यक था कि यही सावित्री इनकी स्त्री कल्पित हों, जिससे वायु के सब गुण ब्रह्माजी में घट सकें। विवेकी पुरुषो! अब इसका भाव आप लोगों को विस्पष्ट हो गया होगा।

शङ्का—आप लोग कदाचित् कहेंगे, कि यह क्या बात है, पहले वायु है अथवा सूर्य है। सृष्टि-प्रकरण से तो यह विदित होता है कि प्रथम आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल इत्यादि। अग्नि पद से सूर्य आदि सबका ग्रहण है। इस क्रम के अनुसार सूर्य का कारण वायु होना चाहिए न कि वायु का कारण सूर्य, परन्तु आप प्रत्येक विषय से ही सूर्य की ही मुख्यता और कारण सिद्ध करते हैं। यह क्या बात है ?

समाधान—हे विद्वानो! इसमें सन्देह नहीं कि वायु मुख्य है। सूर्य नहीं, परन्तु यहाँ जो कुछ आख्यायिका रचित हुई है वह लौकिक दृष्टि से, अर्थात् जगत् में जो प्रत्यक्ष कार्य देख रहे हैं कि सूर्य की गरमी से वायु की वृद्धि होती है। प्रत्यक्ष देखते हैं कि चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ मास में यहाँ वायु की शक्ति बहुत हो जाती है। इन मासों में सूर्य प्रचण्ड रहता है। पृथिवी पर इसकी उष्णता अधिक आती है। इसी हेतु वायु भी प्रचण्ड रहता है। उष्णता के कारण वायु लघु हो जाता है। वायु में जो जलकण रहते हैं उन्हें भी सूर्य सोख लेता है। इत्यादि प्रत्यक्ष दृष्टि में यही कहा जाता है कि वायु का चालक या वाहक वा उत्पादक सूर्य ही है। हे विद्वानो! वायु यथार्थ में क्या वस्तु है, इस विद्या को वायव्यशास्त्र के द्वारा जानें। यदि इसका निरूपण किया जाए तो ग्रन्थ का बहुत विस्तार हो जाएगा। यहाँ धर्मनिरूपण ही मुख्य है। जिस लौकिक दृष्टि से आख्यायिका रचित हुई है, उसका भाव प्रदर्शन करना यहाँ अपेक्षित और इष्ट है। आप अब देखें। मानो, वायु एक वस्तु है जो पृथिवी से कई कोश ऊपर तक घनीभूत होकर भरा हुआ है मानो वह एक देव है और अभी अचलभाव से स्थिर है, क्योंकि अभी तक इसे कार्य करने की कोई

शक्ति नहीं मिली है। अब सविता [सूर्य] उष्णतारूपी अपनी कन्या सावित्री को वायु के निकट भेजते हैं। इस शक्ति को पाकर वायु अपने कार्य में दक्ष हो जाता है, परन्तु वायु में जो शब्द उत्पन्न करने की एक शक्ति है, वह इसकी अपनी शक्ति है, जिसको सरस्वती कहते हैं। इस हेतु सरस्वती तो वायु की मुख्य और सावित्री गौण शक्ति है। अतएव ब्रह्माजी की भी मुख्य पत्नी सरस्वती और गौण सावित्री है, इस हेतु सरस्वती का विशेष वर्णन यहाँ करूँगा॥

ब्रह्मा और सरस्वती

जैसे विष्णु की लक्ष्मी, महादेव की पार्वती, वैसे ही ब्रह्मा की सरस्वती शक्ति मानी गई है। हम अभी कह आये हैं कि वायु का ही धर्म शब्दोत्पत्ति करना है, वायु बिना शब्द उत्पन्न नहीं होता। शब्द का ही नाम सरस्वती है। सरस्वती शब्द स्त्रीलिङ्ग है, अतः इसे शक्ति के नाम से पुकारते हैं। किस सुन्दरता से वायु देवता आकाश में रन-रनाते और वनों के वृक्षों के साथ मधुर ध्वनि करते और जल-प्रवाह में मिल सनसनाते, मानो वीणा बजाते सर्वत्र भ्रमण करते हैं। यही वायुदेव मेघ के साथ मिलकर क्या ही घोर भयंकर नाद उत्पन्न करते हैं। यही मनुष्य के कण्ठ में प्रविष्ट हो कैसी मधुरता देते हैं? यह देव किस प्राणी को कुछ निज गुण नहीं देते हैं? इससे सिद्ध है कि वायु की शक्ति वा पत्नी वा पालयित्री शक्ति सरस्वती है। इसी कारण वायुस्थानीय ब्रह्मा की भी पत्नी सरस्वती मानी गई। सरस्वती नाम वाणी का है, इसमें प्रमाण—

श्लोकः। धारा। इला। गौः। गौरी। गान्धर्वी। गभीरा। गम्भीरा। मन्द्रा। मन्द्राजनी। वाशी। वाणी। वाणीची। वाणः। पविः। भारती। धमनिः। नाळीः। मेळिः। मेना। सूर्या। सरस्वती। निवित्। स्वाहा। वग्नुः। उपब्दिः। मायुः। काकुत्। जिह्वा। घोषः। स्वरः। शब्दः। स्वनः। ऋक्। होत्रा। गीः। गाथा। गणः। धेना। ग्नाः। विपा। नना। कशा। धिषणा। नौः। अक्षरम्। मही। अदितिः। शची। वाक्। अनुष्टुप्। धनुः। वल्गुः। गल्दा। सरः। सुपर्णी। बेकुरा।

—निघण्टु १ / ११

यहाँ सत्तावन नाम वाणी के हैं। इनमें सरस्वती, इला, भारती आदि नाम भी आ गये हैं। यह वैदिक कोष का प्रमाण हुआ। अब लौकिक कोष का प्रमाण भी सुनिए।

ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग् वाणी सरस्वती।
व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः॥

—अमरकोश[१]

वेदों में यह 'सरस्वती' शब्द 'नदी' और वाणी इन दोनों अर्थों में बहुधा प्रयुक्त हुआ है, परन्तु जैसे आजकल यह एक देवी 'वीणापुस्तकधारिणी' मानी जाती है और वसन्तपञ्चमी आदि तिथि में इसकी पूजा होती वैसी देवी वैदिक समय में कभी नहीं मानी गई। कतिपय मन्त्र सरस्वती सम्बन्ध में यहाँ उद्धृत करते हैं—

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवति ।
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥१०॥
चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥११॥
महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना ।
धियो विश्वा वि राजति ॥१२॥[२]

कोई ऐसा देश नहीं जहाँ सत्ययुक्त और मनोहर वाणी की प्रशंसा न हो और ईश्वर की यह महती कृपा है कि मनुष्यों में व्यक्त वाणी दी है, जिसके कारण ही यथार्थ में मनुष्य मनुष्य है। हम मनुष्य अपने भाव को परस्पर प्रकट करते हैं। एक दो नहीं किन्तु सहस्रों लाखों काव्य साहित्य इसी वाणी के द्वारा प्रकाशित किये गये हैं। जंगली-से-जंगली मनुष्यजाति गीत-संगीत के वश हैं। हमारे वैदिक यज्ञों में सरस्वती का आधिपत्य न्यून नहीं है। जब ऋत्विक् वीणा पर सामगान करना आरम्भ करते हैं, उस समय क्या विद्वान्, क्या अज्ञानी, क्या राजा, क्या प्रजा, क्या बालक, क्या वृद्ध सभी सरस्वती देवी के वशीभूत और विमुग्ध हो चित्र लेख्यवत् हो जाते हैं। इस प्रकार निःसन्देह सरस्वती देवी का प्रभाव बहुत अचिन्त्य एवं अलौकिक है। इससे बढ़कर साक्षात् रस कोई नहीं। किसी-किसी कवि ने इसको ब्रह्मानन्द का सहोदरा कहा है। एवमस्तु। इस सरस्वती के रस को कौन नहीं जानता? वेदों में भगवान् उपदेश देते हैं कि शब्द का मुख्य प्रयोजन क्या है? इससे क्या-क्या आन्तरिक और बाह्य लाभ जीवात्मा को पहुँच सकता है। इससे यह भी शिक्षा देते

---

१. अमर० प्रथमं काण्डम् ६.१

२. ऋग्वेद १.३.१०-१२

हैं कि वाणी को किस काम में लगाना चाहिए।

अथ मन्त्रार्थ—(वाजेभिः) गाने की विविध प्रकार की जो ग्राम-मूर्छना आदि क्रियास्वरूप गतियाँ हैं, उन्हें 'वाज' कहते हैं। उन गतियों के साथ (सरस्वती) सरस वाणी, अर्थात् परम पवित्र वेदवाणी और तत्सदृश अन्य वाणी भी (नः) हम लोगों के अन्तःकरण को (पावका) पवित्र करती है। वह कैसी सरस्वती है (वाजिनीवती) जो स्वाभाविक प्रशस्त विविध तान, स्वर आदि गति से युक्त है, पुनः (धियावसुः) जो शीघ्र बुद्धि में वास करनेवाली है। ऐसी जो वाणी है वह (यज्ञम्) यजनीय परमात्मा की अथवा यज्ञ की (वष्टु) कामना करनेवाली होवे। यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि जब हम लोग उत्तम मनोहर गीतिका-युक्त और उपदेशमयी सरस्वती (वाणी) सुनते हैं तब निःसन्देह चित्त ईश्वर की ओर खिंच जाता है। इससे बढ़कर अन्तःकरण की पवित्रता क्या है, परन्तु यह तभी हो सकता है यदि वह वाणी 'धियावसु' अर्थात् बुद्धि में पूर्ण रीति से प्रविष्ट हो गई हो।

इससे यह उपदेश मिलता है कि वाणी ऐसी बोलनी वा गानी चाहिए जिसे सब साथ-साथ समझते जाएँ।

अब पुनः वेद उपदेश देता है कि हे मनुष्यो! तुम्हारी ऐसी पवित्र वाणी यजनीय ईश्वर की ओर ही लगे, इसी से तुम्हारा कल्याण है और यही वाणी का महान् प्रयोजन है। आगे भी इसी प्रकार का भाव जानना। अथवा इसका यह भी अर्थ होगा (नः) हम मनुष्यों की (सरस्वती) वाणी=भाषण (पावका) शुद्ध होवे, अर्थात् सत्ययुक्त होवे। वह शुद्ध कैसे हो सकती है, इसके उत्तर में कहते हैं (वाजेभिः) गतियों से, अर्थात् ज्ञानों से, वाज=गति=ज्ञान। 'वज-व्रज गतौ', क्योंकि वह सरस्वती स्वयं (वाजिनीवती) ज्ञानवती है, अर्थात् जब मनुष्य में वाणी होती है तब उससे भला-बुरा विचार करता ही रहता है। वाणी से ही ज्ञान का विचार होता है। इस हेतु वाणी में स्वाभाविक ज्ञान-विचार का धर्म है। पुनः वह पावका कैसे हो सकती है। (धियावसुः) ज्ञान में ही यदि उसका वास हो, अर्थात् यदि प्रतिक्षण ज्ञान की बातों में लगी रहे। वह वाणी (यज्ञं+वष्टु) यजनीय परमात्मा की कामना करे, इत्यादि॥ १०॥

(सूनृतानाम्) सत्य, प्रिय वाक्यों की (चोदयित्री) प्रेरणा करनेवाली (सुमतीनाम्) शोभनबुद्धियुक्त पुरुषों को (चेतन्ती) चेतानेवाली जो

(सरस्वती) वाणी है, वह (यज्ञम्) यजनीय परमात्मा को अथवा विविध यज्ञों को (दधे) धारण करती है, अर्थात् जो वाणी प्रिय और सत्ययुक्त है और बुद्धिमान् को सर्वदा चेतावनी देनेवाली परम शुद्ध, पवित्र दैवी वाणी है, उसी से ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना हो सकती है, अर्थात् प्रथम वाणी को सत्ययुक्त, प्रिया और निज कर्मों की रक्षयित्री बनाना चाहिए तब उससे यज्ञादि शुभकर्म करे यह उपदेश है॥ ११ ॥

(सरस्वती) पूर्वोक्त गुण-विशिष्टा वाणी (केतुना) निजकर्म से (महः) बहुत (अर्णः) आनन्दाब्धि रस को जगत् में (प्रचेतयति) उत्पन्न करती है, अर्थात् पवित्र वाणी से केवल अपना ही उपकार नहीं होता, किन्तु जगत् में भी महान् आनन्दाब्धि विस्तृत होता है और वही वाणी तब (विश्वा) निखिल (धियः) कर्मों को (विराजति) प्रदीप्त करती है। जब वाणी शुद्ध होती है तभी शुभ कर्म भी शोभित होते हैं॥ १२ ॥

यह कैसा उत्तम वाग्देवी का वर्णन है! हे विद्वानो! निःसन्देह प्रथम वाणी पवित्र करनी चाहिए।

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।

— ऋ० १/१३/९

अर्थ—(इळा+सरस्वती+मही) इळा, सरस्वती और मही—ये तीन प्रकार की वाणी के नाम है। इनके भेद संगीतशास्त्र से प्रतीत होते हैं। ये (तिस्रः+देवीः) तीन प्रकार की देदीप्यमान वाणी (मयोभुवः) सुख उत्पन्न करनेवाली है और (अस्रिधः) सरस है। ये तीनों प्रकार की वाणी (बर्हिः) मेरे हृदयरूप आसन पर (सीदन्तु) विराजमान होवें।

इस मन्त्र में इला, सरस्वती और मही—ये तीनों वाणी के नाम हैं, परन्तु अन्यान्य मन्त्रों में मही के स्थान में प्रायः 'भारती' शब्द आता है और इन तीनों के विशेषण में "देवी" शब्द बहुधा प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि लोगों को वाणी आमोद, प्रमोद, आनन्द देती है, इस कारण ये तीनों देवी हैं। अभी वाणी के नामों में ये तीन नाम देखे हैं। यद्यपि ये पर्यायवाचक हैं तथापि इनमें बहुत कुछ भेद है।

सरस्वती आदि तीन देवियाँ

शुचिर्देवेष्वर्पिता होत्रा मरुत्सु भारती।
इळा सरस्वती मही बर्हिः सीदन्तु यज्ञियाः॥

— ऋ० १/१४२/९

अर्थ—(मरुत्सु+देवेषु) अनेक प्रकार के वायु देवों में (अर्पिता) समर्पित हैं। यहाँ मरुत् शब्द से विविध प्रकार के गाने के जो षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद—ये सात स्वर और ग्राम, मूर्च्छना आदि गतियाँ हैं उनका ग्रहण है। जब वाणी इन स्वररूप देवताओं में अर्पित होती है तब (शुचिः) पवित्र और (होत्रा) होमनिष्पादक, अर्थात् यज्ञसम्पादन योग्य होती है। इस प्रकार (भारती+इला+सरस्वती) भरती, इला, सरस्वती तीन प्रकार की (मही) वाणी (बर्हिः) हृदयरूप आसन पर (सीदन्तु) बैठें। वे तीनों कैसी हैं (यज्ञियाः) ईश्वर-सम्बन्धी वा यज्ञ-सम्बन्धी। यहाँ सायण कहते हैं कि द्युस्थाना वाणी का नाम भारती, पार्थिववाणी का नाम इला और माध्यमिका (मेघस्थ) वाणी का नाम सरस्वती है। यहाँ मही शब्द विशेषण में आया है॥ ९॥

भारतीळे सरस्वति वः सर्वा उपब्रुवे।
ता नश्चोदयत श्रिये॥ —*ऋ० १।१८८।८*

अर्थ—(भारति+इळे+सरस्वति) हे भारती! हे इळा! हे सरस्वति! (याः+वः सर्वाः) जो आप सबका (उपब्रुवे) मैं सेवन करता हूँ, (ताः) वे आप (नः) हमारे (श्रिये) कल्याण के लिए (चोदयत) प्रेरणा करें—हमें शुभ कर्म में लगावें।

यहाँ अध्यारोप करके वर्णन है। किसी ब्रह्मचारी ने तीनों प्रकार की वाणी में परिश्रम किया है। वह अपने मन में विचार कर रहा है और मानो वाणी को साक्षात्कार करके कहता है कि हे वाणी! मैंने परिश्रम से तेरा अभ्यास किया है। अब यज्ञादि में मेरी सहायता कर। ऐसा कहने का मनुष्य का स्वभाव है। आज कल भी विद्यार्थी जब एक ग्रन्थ को समाप्त करता है तब बड़ी प्रसन्नता से कहता है कि हे ग्रन्थ! अब मुझपर कृपा रक्खो, विस्मृत मत हो जाना, इत्यादि। इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि इसने ग्रन्थ चेतन मान लिया। इस प्रकार कहने का मनुष्य-स्वभाव है। इसी स्वभाव का वेद में भी वर्णन है।

आ भारती भारतीभिः सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्निः।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु॥
—*ऋ० ३।४।८*

भारतीवमानस्य सरस्वतीळा मही।
इमं नो यज्ञमा गमन् तिस्रो देवीः सुपेशसः॥
—*ऋ० ९।५।८*

इन सबका अर्थ भी पूर्ववत् ही है। इस प्रकार अनेक ऋचाओं में इळा, भारती, सरस्वती—ये तीनों नाम साथ आते हैं।

आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञᳬं सरस्वती सह रुद्रैर्न आवीत्।
इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त॥

—*यजुः० २१/८*

अर्थ—(भारती) भारती वाणी (आदित्यैः) आदित्यों के साथ (नः+यज्ञम्) हमारे यज्ञ की (वष्टु) कामना करे। (सरस्वती) सरस्वती वाणी (रुद्रैः) रुद्रों के साथ (नः) हमारे यज्ञों की (आवीत्) रक्षा करे। (उपहूता) सम्यक् अभ्यसित (इडा) इला वाणी (वसुभिः) वसुओं के साथ (सजोषाः) प्रीति से युक्त हो (नः+यज्ञम्) हमारे यज्ञ को (अमृतेषु) वायु आदि अमर देवों में (धत्त) स्थापित करे॥८॥

इस मन्त्र से विस्पष्टतया सिद्ध होता है वाणी तीन प्रकार की है—आदित्य सम्बन्धी, रुद्र सम्बन्धी और वसु सम्बन्धी। इसमें रहस्य यह है कि सामवेद आदित्य दैवत है। रुद्र नाम वायु का है। यजुर्वेद वायुर्दैवत और ऋग्वेद अग्निदैवत है। वसु नाम अग्नि का है। इसका विस्पष्ट भाव यह हुआ कि सामवेद-सम्बन्धी गान का नाम भारती, यजुर्वेद-सम्बन्धी वाणी का नाम सरस्वती और ऋग्वेद-सम्बन्धी वाणी का नाम इला वा इडा है। इन्हीं तीन के अन्तर्गत अथर्व है। अथवा सूर्य, वायु और अग्नि इन तीनों की जो वाणी है वह क्रम से भारती, सरस्वती और इला कहलाती है। इन तीनों तत्त्वों से वाणी बनती है। अथवा तीन प्रकार के जो आदित्य, रुद्र, वसु नाम के ब्रह्मचारी होते हैं, इन तीनों की जो वाणी है वह क्रम से भारती, सरस्वती और इळा कहलाती है। ये तीनों प्रकार के ब्रह्मचारी अपनी-अपनी वाणी से यज्ञ को सुशोभित करें। यह ईश्वर का उपदेश है।

देवीस्तिस्त्रस्तिस्रो देवीः पतिमिन्द्रमवर्धयन्।
अस्पृक्षद् भारती दिवᳬं रुद्रैर्यज्ञᳬं सरस्वतीडा
वसुमती गृहान् वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज।

—*यजुः० २८/१८*

इसका भाव पूर्ववत् है। यहाँ भारती, सरस्वती, इड़ा तीनों देवियाँ पति, अर्थात् पालक इन्द्र को प्रसन्न कर रही हैं। यहाँ इन्द्र शब्द का अर्थ परमात्मा है। ऋग्, यजुः, साम तीनों वाणी इश्वर की ही स्तुति करती हैं। वेदों का पति ईश्वर ही है। जीवात्मा में भी यह घट सकता है, क्योंकि यदि जीवात्मा न हो तो उच्चारण कौन करे?

जीवात्मा इस वाणी से नि:सन्देह अति प्रसन्न होता है, परन्तु मुख्यतया 'इन्द्र' शब्दार्थ यहाँ 'वायु' से 'स्वर' का तात्पर्य है। यज्ञ के प्रात:सवन, माध्यन्दिनसवन और सायंसवन में जो ऋचाएँ पढ़ी जाती हैं और उनके द्वारा जो आहुति दी जाती है उससे सर्वत्र लाभ पहुँचता है, इसका इसमें वर्णन है॥ १८॥

होता यक्षत् तिस्रो देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपस इडा सरस्वती भारती महीः। इन्द्रपत्नीर्हविष्मतीर्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज।

—*यजु:० २८।८*

इसका भी भाव पूर्ववत् है। यहाँ पर भी इडा, सरस्वती और भारती को 'इन्द्रपत्नी' कहा है। इन्द्र का पालन करनेवाली को 'इन्द्रपत्नी' कहते हैं। महीधर कहते हैं "इन्द्रपत्नी इन्द्रस्य पत्न्यः पालयित्र्यः" पत्नी शब्द का अर्थ पालयित्री है। यदि वेद न हो तो ईश्वर की रक्षा अति कठिन है। इस हेतु वेदवाणी इन्द्रपत्नी है अथवा इन्द्र जिनका रक्षक हो उन्हें 'इन्द्रपत्नी' कहते हैं। "इन्द्रः पतिः पालको यासां ता इन्द्रपत्न्यः", इत्यादि भाव इसका हो सकता है। विश्वेदेव के साथ अकेला सरस्वती शब्द बहुधा प्रयुक्त हुआ है। आगे सरस्वती–सम्बन्धी कतिपय ऋचाएँ लिखेंगे, उनमें इसका उदाहरण देख लेना, परन्तु कहीं–कहीं केवल सरस्वती शब्द आया है, जिसके उदाहरण प्रथम भी कुछ लिख आये हैं। यहाँ दो उदाहरण और भी देते हैं।

पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्॥

—*ऋ० ९।६७।३२*

अर्थ—जिन वाणियों में (ऋषिभिः) ऋषियों ने (रसम्) परमात्मसम्बन्धी विज्ञानरूप रस को (संभृतम्) भरा है, उन (पावमानीः) अन्तःकरण को पवित्र करनेवाली वाणियों को (यः) जो ज्ञानीजन (अध्येति) पढ़ते, विचारते हैं (तस्मै) उन अध्येताओं के लिए (सरस्वती) वाणी (क्षीरम्) क्षीर (सर्पिः) घृत और (मधूदकम्) मधुरस (दुहे) देती है।

यहाँ भगवान् उपदेश देते हैं कि जो वेदवित् परम ज्ञानी जन हैं उनके ही रचित ग्रन्थ पढ़ने चाहिएँ, उन्हीं से कल्याण होता है। जो अवेदवित् नास्तिक जन हैं उनके ग्रन्थ पढ़ने से ऐहलौकिक और पारलौकिक—दोनों परमार्थ नष्ट होते हैं। यहाँ सरस्वती शब्द का

अर्थ अभ्यसित विद्या है।

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥

—ऋ० १०।१७।७

अर्थ—(देवयन्तः) परमेश्वर के भक्तजन (सरस्वतीम्) विद्या का (हवन्ते=आददति) ग्रहण करते हैं, अर्थात् विद्या से प्रेम करते हैं। (अध्वरे+तायमाने) जब यज्ञ होने लगता है तब ज्ञानीजन का (सरस्वतीम्) विद्या से ही काम पड़ता है। (सुकृतः) सुकृती पुरुष सर्वदा (सरस्वतीम्+अह्वयन्त) विद्या का ही ग्रहण करते आये हैं। जो जन विद्या की शरण में रहते हैं उस (दाशुषे) परिश्रमी पुरुष को (सरस्वती) विद्या भी (वार्यम्) अच्छे वरणीय कर्मफल (दात्) देती है॥७॥

इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत् सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः॥

—ऋ० ६।६१।२

(इयम्+सरस्वती) यह सरस्वती, अर्थात् सरस मधुर जलवाली नदी (शुष्मेभिः) अपनी विदारण करनेवाली (तविषेभिः) महान् प्रचण्ड—वेगवान् (ऊर्मिभिः) तरङ्गों से (गिरीणाम्) तटस्थ पर्वतों के (सानु) शिखरों को (अरुजत्) भग्न करती है। इसमें उपमा देते हैं—(बिसखाः+इव) कमल के विस के [कमल के जड़ में कन्द होता है, उसे विस कहते हैं] (पारावतघ्नीम्) तट से बहुत दूर जो ग्राम वृक्षादिक हैं, उन्हें भी नष्ट करनेवाली है। हम लोग (सुवृक्तिभिः) अच्छे (धीतिभिः) उपायों से (अवसे) रक्षा के लिए उस पारावतघ्नी (सरस्वतीम्) सरस्वती के निकट (विवासेम) पहुँचें।

इसका भाव यह है कि जब नदियों से उपद्रव पहुँचे तब बुद्धिमानों को उचित है कि इसका पूरा प्रबन्ध करें।

प्र क्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः।
प्र बाबधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धुरन्याः॥

—ऋ० ७।९५।१

अर्थ—(एषा) यह (सरस्वती) सरस्वती नदी (धायसा) तीक्ष्ण (क्षोदसा) जलप्रवाह के साथ (प्र+सस्रे) बड़े वेग से दौड़ रही है। यह कैसी है (आयसी+पूः) लौहनिर्मित नगरी के समान (धरुणम्) हम लोगों की रक्षा करनेवाली। पुनः कैसी है (सिन्धुः) बड़े वेग

से बहनेवाली वह सरस्वती (महिना) अपनी महिमा से, अर्थात् अपनी तीक्ष्ण धारा से (अन्याः+अपः) अन्यान्य नदियों को (बाबधाना) बाधित करती हुई (रथ्या+इव) सारथी के समान (प्रयाति) जा रही है।

जैसे रथ पर बैठकर मनुष्य अपने रथ से मार्गस्थ लताप्रभृतियों को चूर्ण करता हुआ जाता है तद्वत् सरस्वती नदी अन्य नदियों को दबाती हुई जा रही है। यहाँ 'अप्' शब्द से नदी का ग्रहण है।

एकाचेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्।
रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयोदुदुहे नाहुषाय॥

—ऋ० ७।९५।२

अर्थ—(नदीनाम्) अन्यान्य नदियों में (शुचिः) शुद्ध, स्वच्छ जलवाली और (गिरिभ्यः) पर्वतों से निकलकर (आसमुद्रात्) समुद्र-पर्यन्त (यती) जाती हुई (एका) एक (सरस्वती) सरस्वती नदी (अचेतत्) असंख्य जंगम-स्थावरों को प्राण दे रही है। इसी को आगे विस्पष्ट करते हैं (भूरेः) बहुत—असंख्य (भुवनस्य) भूतजात, अर्थात् प्राणियों को (रायः) खुराक—भोजन पहुँचाकर (चेतन्ती) जिलाती हुई (नाहुषाय) मनुष्य सन्तान के लिए (घृतम्+पयः) घृत और दूध (दुदुहे) देती है॥ २॥

नदी का यह कैसा उत्तम वर्णन है। उसी नदी का जल शुद्ध होता है जो पर्वत से निकलती है, जैसे गङ्गा। एक तो सहस्रों जल-जन्तु नदी से पलते हैं। इसके अतिरिक्त इसके पानी से विविध अन्न उत्पन्न होते हैं। नदीतट पर शस्य-सम्पन्न देश होता है। सर्वदा हरि-हरी घासें लगी रहती है। ग्रामपशुओं में गौ बैल, भैंस, बकरे, भेड़, घोड़े आदि चरकर खूब सुपुष्ट रहते हैं। इनसे गृहस्थ आनन्द से काम लेते हैं। ब्याई हुई गौ, भैंस खूब घास चरकर अधिक दूध देती हैं। इस प्रकार यदि विचारेंगे तो ज्ञात होगा कि नदी क्या नहीं देती है।

सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिर्महो महीरवसा यन्तु वक्षणीः।
देवीरापो मातरः सूदयित्न्वो घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत॥

—ऋ० १०।६४।९

अर्थ—(ऊर्मिभिः) तरंगो से संयुक्त (महः+महीः) बड़ों में भी महान् (सरस्वती+सरयुः+सिन्धुः) सरस्वती, सरयू और सिन्धु नदियाँ (अवसा) अपने गमन से (वक्षणिः) ढोनेवाली हों। (आयन्तु) हमारे देश में आवें और उनके (देवीः) दिव्य, शुद्ध, स्वच्छ (मातरः) अनेक

पदार्थों के निर्माण करनेवाले (सूदयित्व:) नौका आदि को चलानेवाले (आप:) जल (न:) हमारे देशस्थ (पय:) जल को (घृतवत्) घृत के समान पुष्ट और (मधुमत्) मधु के समान स्वादिष्ट (अर्चत) बनावें॥ ९ ॥

हे विद्वानो! इस वर्णन पर ध्यान दीजिए! परमेश्वर उपदेश देता है कि जहाँ का जल अच्छा न हो अथवा जल ही न्यून हो वहाँ नहरें खुदवा कर नदी ले-आनी चाहिए। उन नदियों के जल से देशस्थ दुष्ट जल भी अच्छा हो जाएगा। इससे केवल इतना ही लाभ नहीं होगा, किन्तु वह जल (वक्षणी:) तुम्हारे पदार्थों को ढोनेवाला भी होगा। कैसी नदी लानी चाहिए? सरस्वती—जिसका जल सरस, अर्थात् मधुर हो और सरयु=जिसका वेग बहुत हो और सिन्धु=जिसका जल अगाध=गम्भीर हो। ऐसी-ऐसी नदियों को लाकर देश की रक्षा करनी चाहिए।

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्त्रोतसः।
सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत् सरित्॥

—यजुः० ३४।११

अर्थ—(सस्त्रोतस:) समान-स्त्रोतवाली (पञ्च+नद्यः) पाँच नदियाँ (सरस्वतीम्+अपि यन्ति) सरस्वती में मिलती हैं। (तु) निश्चय (सा+उ+सरस्वती) वही सरस्वती (पञ्चधा) पाँच से मिलकर (देशे) देश में (सरित्+अभवत्) नदी होती है।

यहाँ पञ्च शब्द उपलक्षणमात्र है। जब किसी एक नदी में अनेक नदियाँ मिलती हैं तब वही नदी बहुत बड़ी होकर देश में सरित्=महानदी नाम से पुकारी जाती है। यह ऋचा वाणी में भी घटती है। पाँचों इन्द्रियाँ नदीवत् हैं।

सरस्वती नाम पर विचार

आप लोगों को स्मरण रखना चाहिए कि सरस्वती, सरयू, गङ्गा, यमुना, शुतुद्री, परुष्णी, असिक्नी, और वितस्ता आदि जो नाम वेद में आये हैं, वे किन्हीं विशेष नदियों के नाम नहीं हैं। वे गुणवाचक शब्द हैं, अर्थात् नदी के विशेषण हैं। नदी कैसी होती है। नदी किसको कहना चाहिए, इससे क्या लाभ-हानि है, इत्यादि वर्णन अवश्य वेद में होने चाहिए। सृष्टि के आदि में पदार्थ-गुण जान वेद के शब्दों को ही ले-लेकर ऋषियों ने पदार्थों के नाम रक्खे हैं। वेद में जैसा वर्णन है और जो शब्दार्थ जिसमें घट सकता है तदनुकूल नाम-

करण करते गये हैं। दूसरी बात यह है कि जो सम्प्रदाय देश में अधिक फैलता है उसी के अनुसार नाम भी होते हैं। जैसे आज कल शिव, राम, कृष्ण, गङ्गा आदि नामों पर लोग अपने सन्तानों के नाम रखते हैं। अतिप्राचीन समय में वैदिक धर्म ही सर्वत्र प्रचलित था, इस हेतु वेद के शब्दों पर बहुत नाम हैं। वेद में नदी के विशेषण में सरस्वती, सिन्धु, सरयु आदि नाम आये हैं, अतः अपनी देशीय नदियों के भी वैसे ही नाम रख दिये। बहुत दिनों पश्चात् जब वेद के यथार्थ अर्थ को भूल गये तब लोग समझने लगे कि इन्हीं नदियों का वेदों में वर्णन है, परन्तु सर्वसिद्धान्त से वैदिक शब्द नित्य माने गये हैं, इस हेतु इसमें किसी विशेष नदी का नाम नहीं हो सकता। स्मृतियों में कहा गया है—

ऋषीणां नामधेयानि यश्चिद् वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यज॥
यथर्तावृतु लिंगानि नानारूपाणि पर्ययः।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु॥

इत्यादि॥

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि वैदिक नाम से ही पदार्थों का नाम-करण हुआ। हम आगे प्रत्येक शब्द का अर्थ करेंगे। इस हेतु यह शंका नहीं करनी चाहिए कि वेद में अनित्य वा विशेष किसी वस्तु का नाम है।

वेद में नदी का वर्णन

जगत् में नदी भी ईश्वरीय-विभूति-प्रदर्शन में सहायिका होती है। वैशाख-ज्येष्ठ में जब सूर्य भूमि को दग्ध करना आरम्भ करता है तब घासें सूख जाती हैं। उष्णता से लोग व्याकुल होने लगते हैं। छोटे-छोटे तालाब व सरोवरों का जल समाप्त हो जाता है। उस समय हम किस आनन्द से नदी में स्नान करते हैं। प्रहर रात्रि से लेकर प्रहर रात्रि तक मनुष्यों की कैसी भीड़ तट पर शोभित रहती है। इतना ही नहीं हमारे पशु—गौ, बैल, भैंस, बकरे, भेड झुण्ड-के-झुण्ड भानु-रश्मि से सन्तप्त हो पानी पीने को दौड़ते हैं। महिषी (भैंस) किस आमोद-प्रमोद के साथ घण्टों जल-क्रीड़ा करती रहती हैं। इसी प्रकार रात्रि में अन्य पशु इस नदी से महान् लाभ उठाते हैं। इन सबसे बढ़कर हमारे खाद्य पदार्थों में यह नदी रस पहुँचाती है। इसके पानी से सैकड़ों भोज्य वस्तुओं को कृर्षवल (किसान)

सदा उत्पन्न करते रहते हैं। इसका तट सर्वदा उर्वरा (उपजाऊ) रहता है। वर्षाऋतु में इसकी दशा कभी-कभी अत्यन्त भयंकर हो जाती है। जहाँ यह लाभ पहुँचाती है अब वहाँ इसका पानी इतना बढ़ जाता है कि ग्राम-ग्राम में पानी-ही-पानी हो जाता है। हज़ारों गृह गिर कर भूमि में मिल जाते हैं। बहुधा मनुष्य भी डूबकर मर जाते हैं। जहाँ नदी की बाढ़ होती है, वहाँ समुद्र के समान दृश्य प्रतीत होता है, परन्तु इतनी भयंकरी होने पर भी नदी अपनी उत्पादक-शक्ति से लोगों के दुःख को भुला देती है। जब इसके कारण से पूर्ण सस्य उत्पन्न होते हैं, तब प्रजाएँ गद्‌गद हो जाती हैं और पिछले क्लेश को भूल जाती हैं। इस प्रकार नदी हमें, हमारे द्विपद-चतुष्पदों को और अन्य पशु-पक्षियों को जीवन-प्रद जल देती है, अन्न देती है, प्रचुर घास देती है, बहुत धन देती है। शीतलता प्रदान कर अति सुख देती है। स्वच्छ पानी देने से जीवन की रक्षिका भी होती है और स्वास्थ्य की रक्षा से मानो व्याधि की भी विनाशयित्री होती है। अपनी तरङ्ग की क्रीड़ा और चञ्चलता से हमें ईश्वराभिमुख करती है। इस हेतु इसको ईश्वरपथ-प्रदर्शिका भी कह सकते हैं। ऐसी सुखप्रदा नदी की स्तुति-प्रार्थना हम मनुष्य करें?। नहीं, नहीं कदापि नहीं। यह तो अज्ञानता की बात है। नदी जड़ हैं। हमारी स्तुति-प्रार्थना को वह नहीं सुन सकती। क्या वेद इसकी स्तुति करने के लिए हमें आज्ञा नहीं देते? नहीं, नहीं, कदापि नहीं। वेद का यह अभिप्राय नहीं। वेद इनके गुणों को केवल बतलाता है और दर्शाता है कि इनमें भी ईश्वर की विभूति देखो। आर्य सन्तानो! जो लोग आजकल गङ्गा, कावेरी, नर्मदा, त्रिवेणी अथवा सागर आदि की पूजा करते हैं, इनपर पूजा चढ़ाते हैं और इनमें स्नानादि से पाप का नाश समझते हैं, वे निःसन्देह बड़े अज्ञानी हैं, वेद के तत्त्व से सर्वथा विमुख हैं। ज्ञानी पुरुषो! मनुष्य ज्ञान के प्रताप से इन सबसे बहुत बड़ा है। मनुष्य का स्तुत्य, प्रार्थनीय, जपनीय, सेवनीय एक परमात्मा है। इन सबका कर्त्ता, धर्त्ता ईश्वर ही है।

अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवास अनु केतमायन्॥

—ऋ० ४/२६/२

अर्थ—ईश्वर कहता है हे मनुष्यो! (अहम्) मैं (आर्याय) मनुष्यों को (भूमिम्) निवास के लिए भूमि (अददाम्) देता हूँ (अहम्) मैं (दाशुषे+मर्त्याय) आश्रित और यज्ञानुष्ठानादि करनेवाले

मर्त्यलोक के लिए (वृष्टिम्) वर्षा देता हूँ। (अहम्) मैं (अपः+वावशानाः) शब्दायमान जल (अनयम्) लाता हूँ (देवाः) अग्नि, वायु, सूर्य-प्रभृति सकल देव (मम+केतम्) मेरे संकल्प के (अनु+आयन्) अनुगामी होते हैं।

अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।
अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्॥

—ऋ० १०।१८३।३

(अहम्) मैं (ओषधीषु) ओषधियों में (गर्भम्) अन्तःगर्भ (अदधाम्) स्थापित करता हूँ। (अहम्) मैं (विश्वेषु+भुवनेषु) समस्त भुवनों में व्यापक हूँ। (अहम्) मैं (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (प्रजाः+अजनयम्) प्रजाओं को उत्पन्न करता हूँ (अहम्) मैं (अपरीषु+जनिभ्यः) अन्यान्य सकल निर्माण और उत्पन्न करनेवाली शक्तियों में (पुत्रान्) सन्तान उत्पन्न करता हूँ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवान् ही जल का भी प्रेरक है, भगवान् ओषधि में शक्ति देनेवाला है, अतः वही सर्वथा पूज्य है। ईश्वर को छोड़ अविवेक-वश जो नदी आदि जड़ की पूजा करते हैं, वे जड़बुद्धि और बालक हैं।

अस्य श्रवो नद्यः सप्त बिभ्रति द्यावाक्षामा पृथिवी दर्शतं वपुः।
अस्मे सूर्याचन्द्रमसाभिचक्षे श्रद्धे कमिन्द्र चरतो वितर्तुरम्॥

—ऋ० १।१०२।२

इसी प्रभु के यश को प्रवहणशील नदियाँ धारण करती हैं। द्यावापृथिवी इसी का यश प्रगट कर रही हैं। हे भगवन्! हमारी श्रद्धा के हेतु ये सूर्य-चन्द्र निरन्तर कार्य कर रहे हैं। देखिए—

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां याञ्च दिशमन्वेतस्य।[1]

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष आत्मान्तर्याम्यमृतः।[2]

—बृहदारण्यकोपनिषद्

सरस्वती विद्याधिष्ठात्री देवी

सरस्वती विद्या अधिष्ठात्री देवी कैसे बन गई? वेदों के वर्णन से अभी आपने देखा कि 'सरस्वती' नाम वाणी और विद्या आदि

---

१. बृहदा० ३.८.९ २. बृहदा० ३.७.४

का है। हम देखते हैं कि विद्वानों की प्रतिष्ठा क्या पूर्व समय में, क्या आजकल सर्वदा होती आई है। जिस समय महाराजों के गृह पर यज्ञ होते थे, जिसमें देश-देश के भूप आहूत होते थे। सहस्त्रों, लाखों मनुष्य एकत्र होते थे, उस महायज्ञ में जब विद्वान् सिंहासन पर बैठकर उपदेश देते होंगे और वेद के गान से सबके हृदय को अपनी ओर खींचते होंगे, उस समय अनुमान कीजिए लोगों के हृदय में उन विद्वानों की कितनी गौरव-प्रतिष्ठा होती होगी। लोग समझते होंगे कि इसकी जिह्वा पर साक्षात् सरस्वती नृत्य कर रही है। यह ईश्वर की महती कृपा है। इसपर सरस्वती का अनुग्रह है। आजकल भी लोग विद्वान् और सुवाग्मी को देखकर कहते हैं कि इसके मुख पर सरस्वती विराजमान है। यज्ञ में उद्गाता, ऋत्विक् पूर्व समय में वीणावाद्य पर सामगान किया करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि वाद्य से यों ही लोग मोहित रहते हैं, परन्तु जिस समय बड़े प्रवीण जन गाते होंगे उससे तो और अधिक मोहित होते होंगे। इस प्रकार वाणी का अद्भुत प्रभाव देखकर धीरे-धीरे लोग समझने लगे कि सरस्वती कोई देवता है, जिसकी कृपा से मनुष्य जगत् में परम प्रतिष्ठित होता है। पूर्व समय में वीणा ही प्रधानतया बजाई जाती थी। इस हेतु लोगों ने समझा कि सरस्वती का बाजा वीणा है। इस प्रकार क्रमश: सरस्वती देवी विद्या और गान दोनों की अधिष्ठात्री देवी बनी और नादविद्या विशेषतया वायु, अर्थात् स्वर के अधीन है। इस हेतु वायुस्थानीय ब्रह्मा की शक्ति समझी गई, परन्तु जैसे लक्ष्मीनारायण, गौरीशंकर शब्द प्रसिद्ध हैं, वैसे 'सरस्वतीब्रह्मा' समस्त शब्द कहीं प्रयुक्त नहीं होता और न लोग बोलते हैं। यद्यपि ब्रह्मा अपूज्य हैं तथापि सरस्वती की पूजा बहुत है। ब्रह्मा के साथ सावित्री वा गायत्री के भी नाम नहीं आते। ये देवियों भी पूज्य हैं, परन्तु ब्रह्मा नहीं।

सरस्वती और अमरकोश आदि

अमरकोश में जहाँ विष्णु और महादेवजी के नाम आये हैं, इन दोनों की शक्ति लक्ष्मी और पार्वती के नाम भी विहित हैं, परन्तु ब्रह्मा के नाम के साथ न सरस्वती का और न गायत्री, सावित्री नाम आया है। इतना ही नहीं, किन्तु अमरकोश में ब्रह्मा की पत्नी वा शक्ति कहीं नहीं कही गई है। यह आश्चर्य प्रतीत होता है। अमरसिंह ने इन्द्रादि देवताओं की भी शक्तियों के नाम दिये हैं, परन्तु ब्रह्मा

की पत्नी की कोई चर्चा नहीं की। इससे प्रतीत होता है कि अमरसिंह के समय तक प्रायः सरस्वती आदि ब्रह्मा की पत्नी नहीं बनीं थीं और न अन्यान्य ही कोई ब्रह्मा की पत्नी मानी जाती थी। पुराणों में कहीं-कहीं सरस्वती विष्णुपत्नी कही गई हैं, परन्तु यह सम्प्रदाय का पक्षपात है—

लक्ष्मी सरस्वती गङ्गा तिस्रो भार्या हरेरपि।
प्रेम्णा समास्तास्तिष्ठन्ति सततं हरिसन्निधौ॥

—देवीभागवत ९/६/१७

देवीभागवत में सावित्री ब्रह्मा की प्रिया कही गई है—

पवित्ररूपा सावित्री गायत्री ब्रह्मणः प्रिया॥

—देवीभागवत ९/१/४०

पूर्व समय में सरस्वती नदी की चर्चा बहुधा आती है। मनुजी लिखते हैं।

सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥

—मनु० २/१७

ब्राह्मणग्रन्थादि में सरस्वती तट का वर्णन अधिक आता है। इसके तट पर ऋषि लोग प्रायः निवास किया करते थे। ईश्वर की कैसी अद्‌भुत लीला है! आज वह सरस्वती तट कहाँ है? आज कितना परिवर्तन हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि यह सरस्वती शब्द हमें बारम्बार ऋषियों के चरित्र, लीला, यज्ञ-सम्पादन आदि व्यवहारों का स्मरण दिला एक अलौकिक भक्ति, प्रेम अथवा श्रद्धा उत्पन्न करता है। ईश्वर! धन्य तेरी महिमा!

सरस्वती सूक्त

१. **पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।**
यज्ञं वष्टु धियावसुः॥ १०॥

२. **चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।**
यज्ञं दधे सरस्वती॥ ११॥

३. **महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना।**
धियो विश्वा वि राजति॥ १२॥ *—ऋ० १/३*

४. **इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।**
बर्हिःसीदन्त्वस्त्रिधः॥ *—ऋ० १/१३/९*

५. तान्पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्त्रिधम्।
अर्यमणं वरुणं सोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्॥
—ऋ० १।८९।३

६. युयोप नाभिरुपरस्यायोः प्र पूर्वाभिस्तिरते राष्टिः शूरः।
अञ्जसी कुलिशी वीरपत्नी पयो हिन्वाना उदभिर्भरन्ते॥
—ऋ० १।१०४।४

७. शुचिर्देवेष्वर्पिता होत्रा मरुत्सु भारती।
इळा सरस्वती मही बर्हिः सीदन्तु यज्ञियाः॥
—ऋ० १।१४२।९

८. यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि
यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः॥
—ऋ० १।१६४।४९

९. भारतीळे सरस्वती या वः सर्वा उपब्रुवे।
ता नश्चोदयत श्रिये॥ —ऋ० १।१८८।८

१०. त्वमग्ने अदितिर्देव दाशुषे त्वं होत्रा भारती वर्धसे गिरा।
त्वमिळा शतहिमासि दक्षसे त्वं वृत्रहा वसुपते सरस्वती॥
—ऋ० २।१।११

११. सरस्वती साधयन्ती धियं न इळा देवी भारती विश्वतूर्तिः।
तिस्रो देवीः स्वधया बर्हिरेदमच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य॥
—ऋ० २।३।८

१२. सरस्वति त्वमस्माँ अविड्ढि मरुत्वती धृषती जेषि शत्रून्।
त्यं चिच्छर्धन्तं तविषीयमाणमिन्द्रो हन्ति वृषभं शंडिकानाम्॥
—ऋ० २।३०।८

१३. अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ताइव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि॥
—ऋ० २।४१।१६

१४. त्वे विश्वा सरस्वति श्रितायूंषि देव्याम्।
शुनहोत्रेषु मत्स्व प्रजां देवि दिदिड्ढि नः॥
—ऋ० २।४१।१७

१५. इमा ब्रह्म सरस्वति जुषस्व वाजिनीवति।
या ते मन्म गृत्समदा ऋतावरि प्रिया देवेषु जुह्वति॥
—ऋ० २।४१।१८

१६. आ भारती भारतीभिः सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्निः।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक्तिस्त्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु॥
— ऋ० ३/४/८

१७. नि त्वा दधे वर आ पृथिव्या इळायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम्।
दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि॥
— ऋ० ३/२३/४

१८. विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तो दिवो मर्या ऋतजाता अयासः।
सरस्वती शृणवन्यज्ञियासो धाता रयिं सहवीरं तुरासः॥
— ऋ० ३/५४/१३

१९. इळा सरस्वती मही तिस्त्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्त्रिधः॥ — ऋ० ५/५/८

२०. दमूनसो अपसो ये सहुस्ता वृष्णःपत्नीर्नद्यो विभ्वतष्टाः।
सरस्वती बृहद्दिवोत राका दशस्यन्तीर्वरिवस्यन्तु शुभ्राः॥
— ऋ० ५/४२/१२

२१. आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा सरस्वती यजता गन्तु यज्ञम्।
हवं देवी जुजुषाणा घृताची शग्मां नो वाचमुशती शृणोतु॥
— ऋ० ५/४३/११

२२. अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवाः शर्धः प्र यन्त मरुतोत विष्णो।
उभा नासत्या रुद्रो अध ग्नाः पूषा भगः सरस्वती जुषन्त॥
— ऋ० ५/४६/२

२३. पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी धियं धात्।
ग्नाभिरच्छिद्रं शरणं सजोषा दुराधर्षं गृणते शर्म यंसत्॥
— ऋ० ६/४९/७

२४. ते नो रुद्रः सरस्वती सजोषा मीळ्हुष्मन्तो विष्णुर्मृळन्तु वायुः। ऋभुक्षा वाजो दैव्यो विधाता पर्जन्यावाता पिप्यतामिषं नः॥ — ऋ० ६/५०/१२

२५. इन्द्रो नेदिष्ठमवसागमिष्ठः सरस्वती सिन्धुभिः पिन्वमाना।
पर्जन्यो न ओषधिभिर्मयोभुरग्निः सुशंसः सुहवः पितेव॥
— ऋ० ६/५२/६

२६. शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शन्नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः॥ — ऋ० ७/३५/११

२७. आ यत्साकं यशसो वावशानाः सरस्वती सप्तथी सिन्धुमाता।
याःसुष्वयन्त सुदुघाः सुधारा अभि स्वेन पयसा पीप्यानाः॥
— ऋ० ७/३६/६

२८. आहं सरस्वतीवतोरिन्द्राग्न्योरवो वृणे।
याभ्यां गायत्रमृच्यते॥ — ऋ० ८/३८/१०

२९. पूषा विष्णुर्हवनं मे सरस्वत्यवन्तु सप्त सिन्धवः।
आपो वातः पर्वतासो वनस्पतिः शृणोतु पृथिवी हवम्॥
— ऋ० ८/५४/४

३०. भारती पवमानस्य सरस्वतीळा मही।
इमं नो यज्ञमा गमन् तिस्त्रो देवीः सुपेशसः॥
— ऋ० ९/५/८

३१. पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्॥
— ऋ० ९/६७/३२

३२. सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥
— ऋ० १०/१७/७

३३. सरस्वति या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती।
आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयस्वाऽनमीवा इष आ धेह्यस्मे॥
— ऋ० १०/१७/८

३४. सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
सहस्त्रार्घमिळो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि॥
— ऋ० १०/१७/९

३५. आपो रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च। रायश्च स्थ स्वपत्यस्य पत्नीः सरस्वती तद् गृणते वयो धात्॥ — ऋ० १०/३०/१२

३६. सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिर्महो महीरवसा यन्तु वक्षणीः।
देवीरापो मातरः सूदयित्न्वो घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत॥
— ऋ० १०/६४/९

३७. इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥
— ऋ० १०/७५/५

३८. आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विळा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु॥

—ऋ० १०।११०।८

३९. गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा॥

—ऋ० १०।१८४।२

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद का ६-६१ सम्पूर्ण सूक्त, ७-९५ और ७-९६ सम्पूर्ण सूक्त सरस्वती के वर्णन में हैं। प्रत्येक ऋचा में कुछ-न-कुछ विलक्षणता है। इस हेतु वेद के रसिकों के विचारार्थ बहुत मन्त्रों का संग्रह कर दिया है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में कतिपय नवीन ऋचाएँ हैं। यजुर्वेद से कई एक ऋचाओं का अर्थ यहाँ किया गया है। ग्रन्थ के विस्तार के भय से सबका नहीं हो सका, परन्तु बुद्धिमान् लोग इतने से ही बहुत कुछ विचार सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वेदों के अध्ययन-अध्यापन की रीति छूट जाने से वैदिक शब्द प्रायः नवीन प्रतीत होते हैं और इसी हेतु कठिनता का बोध होता है, परन्तु इस हेतु निराश नहीं होना चाहिए। जबतक वेदों पर पूर्ण विचार नहीं होगा और वैदिक शब्दों का भाव नहीं समझेंगे, तब तक लोगों को संस्कृतविद्या का किञ्चिन्मात्र भी वास्तविक तत्त्व विदित नहीं हो सकता और किस प्रकार यहाँ नाना देव-देवी की सृष्टि हुई इसका भी भेद वेद के बिना कदापि नहीं लग सकता। बहुत क्या कहें भारतवर्षीय जीवनतत्त्व ही केवल तब तक अपूर्ण नहीं रहेगा, किन्तु पृथिवीभर के धर्मसम्प्रदाय का जीवनतत्त्व तब तक अज्ञात रहेगा जब तक वेदों पर पूर्ण विचार नहीं होगा। हे आर्य विद्वानो! मनुष्य-मङ्गलार्थ वेद के अध्ययन-अध्यापन का प्रचार करो।

ब्रह्मा और हंस वाहन

लौकिक वैदिक दोनों भाषाओं में सूर्य के नामों में एक नाम हंस भी है **'भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः'** भानु, हंस, सहस्रांशु, तपन, सविता, रवि आदि सूर्य के अनेक नाम हैं। पूर्व में वर्णन हो चुका है कि सूर्य की उष्णता से वायु फैलता रहता है, इस कारण मानो सूर्य वायु का वाहन है, अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने में सहायक है। जो वायु एक स्थान पर ठहरा रहता है, उसमें किरणें पड़ने से गति होने लगती है। तब वह उस स्थान को छोड़ इधर-उधर फैलने लगता है। यही सूर्यकृत वायु

का वाहनत्व है। इससे सिद्ध हुआ कि वायु का वाहन सूर्य है। जब वायु के स्थान में एक मूर्त्तिमान् शरीर-धारी देव कल्पित हुआ तब आवश्यक हुआ कि शरीर-धारी ही इसका वाहन होना चाहिए और वह ऐसा हो जिसका नाम सूर्य के किसी नाम से मिलता हो। वह एक हंस शब्द है, जो सूर्य और पक्षी इन दोनों का वाचक है। इस हेतु वायुस्थानीय ब्रह्माजी का वाहन हंसपक्षी कल्पित हुआ। जैसे कहा जाता है कि हंसपक्षी मिश्रित दूध-पानी में से दूध पी लेता और पानी छोड़ देता है वैसे सूर्य भी पृथिवी आदि में मिश्रित जल को खींच लेता है, अन्य पदार्थ को छोड़ देता है। हंसपक्षी भी महाश्वेत होता है इत्यादि गुण और नाम की समानता देख हंसपक्षी ब्रह्मा का वाहन माना गया है।

ब्रह्मा का निवासस्थान और पुष्कर

जैसे विष्णु का क्षीरसागर और रुद्र का कैलास-पर्वत निवासस्थान वर्णित है वैसे ब्रह्माजी का कोई नियत स्थान नहीं हैं। इसका भी कारण वायु है। वायु का कोई नियत स्थान नहीं, वह सदा अन्तरिक्ष में चला करता है। कभी विश्राम नहीं लेता। हाँ, पुराण में यह वर्णन आता है कि ब्रह्माजी कमल पर बैठकर सृष्टि करते हैं। कमल का एक नाम 'पुष्कर' आता है "**बिसप्रसूनराजीवः पुष्करांभोरुहाणि च**"[1] बिस, प्रसून्, राजीव, पुष्कर और अम्भोरुह आदि अनेक नाम कमल के हैं। परन्तु 'पुष्कर' यह नाम आकाश=अन्तरिक्ष का भी है, यथा—

अम्बरम्। वियत्। व्योम। बर्हिः। धन्व। अन्तरिक्षम्। आकाशम्। आपः। पृथिवी। भूः। स्वयम्भू। अध्वा। पुष्करम्। सागरः। समुद्रः अध्वरम्। इति षोडशान्तरिक्षनामानि॥ —*नि० १।३*

इसमें पुष्कर शब्द आया है और—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवाः पुष्करे त्वाददन्तः॥

—*ऋ० ७।३३।११*

इस मन्त्र की व्याख्या में यास्काचार्य 'पुष्करमन्तरिक्षं पोषति भूतानि' पुष्कर शब्द का अन्तरिक्ष अर्थ करते हैं। अब आप विचार सकते हैं कि ब्रह्मा का निवासस्थान वा सृष्टि करने का स्थान पुष्कर क्यों माना है। वायु पुष्कर, अर्थात् अन्तरिक्ष में रहता है। वायुस्थानीय ब्रह्मा

---

१. अमर० प्रथमं काण्डम् १०।४१

पुष्कर, अर्थात् कमल पर रहता है। इस कारण ही ब्रह्मा का निवासस्थान पद्म है और इसी कारण राजपूताने में अजमेर के समीप 'पुष्कर' नाम का तीर्थ कल्पित कर वहाँ ब्रह्मा का मन्दिर बनाया है।

ब्रह्मा और ब्रह्म-अहोरात्र

ब्रह्माजी का दिन बहुत बड़ा माना गया है। एक कल्प एक दिन है। ब्रह्मा का जागरण सृष्टि है और शयन प्रलय है। जब तक वे जगे रहते हैं तब तक ब्रह्माजी सृष्टि करते रहते हैं। जब सोते हैं तब सृष्टि समाप्त हो गई। इस गुण का भी कारण वायु है। वायु सृष्टिपर्यन्त शयन नहीं करता। इसमें क्या सन्देह है कि वायु जिस समय शयन करे उसी क्षण जीवों का प्रलय हो जाए। लौकिक दृष्टि से भी एक घटना देखते हैं कि सूर्य हमारी दृष्टि से बाहर चला जाता है। अग्नि भी शान्त हो जाती है, परन्तु वायु सदा विद्यमान ही रहता है। मानो, वायु कभी शयन ही नहीं करता, इस हेतु वायु का अहोरात्र मानो बहुत बड़ा होता है। इसी कारण वायुस्थानीय ब्रह्मा का भी दिन बहुत बड़ा माना गया है।

लौकिक-दृष्टि से एसा वर्णन है कि सब देवता अस्त होते हैं, परन्तु वायु अस्त नहीं होता। यह वायु अनस्तमिता देवता है। आर्यो! यह सब घटना हमें सूचित करती है कि वायु के स्थान में ब्रह्मा कल्पित हुआ है। इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

ब्रह्मा ऋषि

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच। प्रजापतिर्मनवे। मनुः प्रजाभ्यः

—छां० उ० ३।११।४

तुरः कावषेयः। प्रजापतिर्ब्रह्मणः। *—बृ० उ० ६।५।४*

ब्रह्मा ने इस ज्ञान को प्रजापति से कहा। प्रजापति ने मनु से। मनु ने प्रजाओं से, इत्यादि प्रमाण से प्रतीत होता है कि ब्रह्मा कोई प्रसिद्ध ऋषि भी हुए हैं।

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह।

—मुण्डकोपनिषद्[1]

यह विद्वान् ब्रह्मा ऋषि की प्रशंसामात्र हैं। निःसन्देह विद्वान्

---

१. मुण्ड० १।१।१

लोग अपनी विद्या से जगत् के कर्त्ता व गोप्ता होते हैं। जगत् में विविध कलाकौशल उत्पन्न कर जगत् के रक्षक होते हैं। पुराणों में भी 'ब्रह्मा का ज्येष्ठपुत्र अथर्वा है', यह कहीं भी उक्त नहीं है। यह ब्रह्मा कोई अन्य है। प्रजापति के पिता यह ब्रह्मा नहीं हैं।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

—श्वे० उ० ६।१८॥

यह ब्रह्मज्ञानी ऋषि के विषय में कहा है, क्योंकि सृष्टि के आदि में जो शुद्ध-पवित्र रहते हैं, उन्हें ही भगवान् वेद का उपदेश करते हैं। [यहाँ जाति में एक वचन है।]

ब्रह्मा और ब्रह्मा की पूजा

पुराणों में ब्रह्माजी अपूज्य सिद्ध किये गये हैं। इसके कई एक कारण पौराणिकों ने कहे हैं। कोई कहते हैं कि अपनी दुहिता पर कुदृष्टि डाली इस हेतु, वे अपूज्य हैं। किसी का कथन है कि एक समय महादेव के समीप मिथ्या बोले, इस कारण अपूज्य हैं, इत्यादि, परन्तु ये सब कल्पनामात्र ही है। जब वायु-भिन्न ब्रह्मा कोई पृथक् देव ही नहीं तो वह अपनी दुहिता पर कुदृष्टि क्या डालेंगे और क्यों असत्य भाषण करेंगे और ऐसे-ऐसे कलङ्की अनेक देव हैं, जिनकी पूजा बराबर होती है। क्या चन्द्रमा के ऊपर छोटा कलंक है। एवमस्तु।

चतुर्मुख-सृष्टिकर्त्ता का यह तात्पर्य कदापि नहीं हो सकता। वह समझता था कि मैं एक देवता को वायु के स्थान में बना रहा हूँ। जिस समय इन देवताओं की कल्पना हुई है वह जैनमत का समय था। वे तीर्थङ्करों की प्राण-प्रतिष्ठा करके पूजते थे, परन्तु ब्रह्म की प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, क्योंकि वह स्वयं प्राणस्वरूप है और जो वायु सदा चलता रहता है इसको स्थिर वा बद्ध कर रखना अनुचित है। इसके अतिरिक्त एक कारण यह है कि वायु सर्वगत प्रत्यक्षतया भासित होता है। भीतर-बाहर भरा हुआ है। उपनिषदों में इस विषय का विस्तार से वर्णन है। इसके बिना जीवन क्षणमात्र भी नहीं रह सकता। यह प्रतिक्षण अपने कार्य में लगा हुआ है, इत्यादि वायु के गुणों से ब्रह्मा का रचयिता परिचित था। इस हेतु इसको आवाहनादि क्रिया से क्लेशार्त्त करना और उससे जगत् के कार्य को बन्द करना अनुचित समझा और इसको असम्भव भी मान इसकी पूजा नहीं चलाई तथापि सब देवों की पूजा के अन्त में इनकी संक्षेप

पूजा कही गई है। पीछे लोग इनके अपूज्य होने के अनेक कारण वर्णन करने लगे। आश्चर्य की बात यह है कि जिसकी सन्तान स्थावर-जङ्गम सभी कही जाती है, उसकी पूजा नहीं होती।

उपसंहार

हमने यहाँ आप लोगों को दरसाया है कि सूर्य ही वायु का पिता है, क्योंकि सूर्य की किरणों के पड़ने से चतुर्मुख-वायु का जन्म होता है। इसी विषय का यों भी वर्णन कर सकते हैं कि सूर्य अपनी शक्ति वायु को देता है तब वायु शक्तिमान् होता है। इस शक्ति को रूपकालंकार से मान लीजिए कि यह सविता की पुत्री है। अतएव वायु का श्वशुर भी सविता ही हुआ। पुनः इसी विषय का यों भी वर्णन कर सकते हैं कि सूर्य ही वायु को, मानो ढोता फिरता है, क्योंकि सूर्य की उष्णता से ही वायु गतिमान् होता है। इस हेतु वायु का वाहन भी सूर्य ही हुआ। कदाचित् आप कहेंगे कि यह क्या? परन्तु आप पुराण की ओर देखिए। एक ही शरीर दो भागों में बँट गया—एक स्त्री शतरूपा, दूसरा मनु। इन दोनों का विवाह हुआ। अथवा सारी सृष्टि तो ब्रह्माजी से हुई, इस हेतु सभी ब्रह्माजी के पुत्र-पुत्री हुए। फिर ब्रह्माजी की स्त्री कौन है ?। अथवा यों देखिए, सारी सृष्टि ब्रह्मा ने की। समुद्र को भी ब्रह्माजी ने ही बनाया। उस समुद्र से लक्ष्मी हुई। इस हिसाब से लक्ष्मीजी ब्रह्मा की पौत्री हुई। विष्णुजी ब्रह्मा के पिता हैं फिर विष्णु और लक्ष्मी में विवाह कैसे? पर्वत को भी ब्रह्माजी ने ही बनाया। उस पर्वत से पार्वती देवजी का जन्म हुआ। वह पार्वती भी ब्रह्मा की पौत्री हुई। महादेव ब्रह्मा के पुत्र हैं। फिर पुत्र-पौत्री में विवाह कैसे? किसी प्रकार से आप देखें पौराणिक कथा की संगति नहीं लग सकती। हाँ, और मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि सूर्य, वायु, पृथिवी आदि सब जड़ पदार्थ हैं। इनमें न कोई किसी का पिता न किसी का कोई पुत्र। यह सब रूपकालंकार-मात्र है। सूर्य का ही नाम विष्णु है। इस हेतु वायुस्थानीय ब्रह्मा का पिता वा जनक विष्णु है। सूर्य का भी एक नाम हंस है इस हेतु ब्रह्मा का वाहन है और सूर्य की शक्ति का नाम सावित्री है। इस हेतु ब्रह्मा की पत्नी सावित्री है इत्यादि भाव जानना। मैंने यहाँ संक्षेप से सब-कुछ वर्णन किया है, विस्तार से आप लोग स्वयं विचार लेवें, परन्तु इस विषय पर सदा ध्यान रक्खें कि धीरे-धीरे ब्रह्मा प्रभृति की कथाओं में बहुत कुछ परिवर्तन होता गया। जो उसका यथार्थ भाव

था उसकी विस्मृति से नूतन-नूतन आख्यायिकाएँ बनती चली गईं।

आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन्। यस्योत जायमानस्योल्ब आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—अथर्व० ४।२।८

स्वभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे।
दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः॥

—यजुः० २३।६३

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिंल्लोका अधि श्रिताः। य ईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम्॥

—यजुः० २०।३२

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत॥

—ऋग्वेद ८।६९।८

हे विद्वानो! आओ परिवारसहित हम सब मिलकर उसी परमात्मा की पूजा, उपासना, प्रार्थना करें जिसकी कृपा ने यह समस्त भुवन चेष्टित हो रहा है।

इति श्रीमिथिलादेशनिवासि-शिवशङ्करशर्मकृते वेदतत्त्वप्रकाशे त्रिदेवनिर्णये चतुर्मुखनिर्णयः समाप्तः

अथ रुद्रनिर्णयः

रुद्र=मेघस्थ अग्नि=वज्र, विद्युद्देव Lightning

ईश्वर भक्तिपरायणजनो! उसकी क्या ही लीला है। देखिए! मेघ में भी अग्नि विद्यमान है। कहाँ शीतल जल। कहाँ विद्युत्प्रकाश। कहाँ प्राणप्रद वारिद, कहाँ जीवनहर्ता मेघ से विद्युत्पात। कहाँ वारिवाह के लिए प्रजाओं की परम उत्सुकता। कहाँ ओले के गिरने से चारों ओर हाहाकार। कहाँ मेघ के जल से वनस्पति, लता, ओषधि, वीरुध, वृक्षादिकों की पुष्टि और अनन्त वृद्धि। कहाँ उसी के पत्थर से उन वनस्पति-प्रभृतियों का विनाश। आहा! क्या ही ईश्वर की घटना है। विज्ञानी पुरुषो! भूमिस्थ जलवाष्प से मेघ बनता है। वाष्प के समय इसकी शक्ति हम मनुष्यों को कुछ भी प्रतीत नहीं होती, परन्तु वही वाष्प मेघ बन जाने पर अद्भुत-शक्ति सम्पन्न हो जाता है। इसको देखकर मनुष्य आनन्दित और भयभीत दोनों साथ-साथ होते हैं। जब धाराधर बड़े जोर से गरजना आरम्भ करता है तब सब डर जाते हैं। हृदय धड़कने लगता है। धैर्य्य नहीं रहता। ऐसा न हो कि कहीं वज्र गिरे। मैं भस्म हो जाऊँ। मेरे गृह जल जाएँ। प्रिय बच्चों, पशुओं पर गिरकर यह विद्युत् मेरी हानि न करे। ईश्वर रक्षा करो। इसके साथ-साथ आनन्द भी असीम प्राप्त होता है। मूसलधार जल गिर रहा है। खेत उपजेंगे। घासें बहुत होंगी। पशु खा-पीकर सुपुष्ट होंगे। उष्णता चली जाएगी। प्राणप्रद-शीतलता प्राप्त होगी। इस प्रकार मेघ से हानि और लाभ दोनों हैं। लाभ अनन्त। हानि किञ्चिन्मात्र।

अब आप विचारें कि मेघस्थ अग्नि कैसा तीक्ष्ण है। कैसा घोर नाद करनेवाला है, कैसा दौड़ता है। इसकी सुषमा देखिए। काली-काली कादम्बिनी चारों ओर छा जाती है। इसपर विद्युल्लता कैसी शोभा देती है। क्षण में कोई विद्युत् प्रकाश कर विलुप्त हो जाती है। कोई अशनि मेघ से गरज-गरजकर पृथिवी पर गिर पदार्थ को भस्म कर देती है। कैसा यह तीक्ष्ण अग्नि है! कितने जोर से दौड़ता है। पृथिवी पर भी अग्नि है, परन्तु ऐसा तीक्ष्ण नहीं। पृथिवी पर की आग क्षण-क्षण बुझती नहीं। मेघ की आग क्षण में दृष्टिगोचर

होती है, परन्तु क्षण में ही छिप जाती है। पृथिवीस्थ आग देर से किसी पदार्थ को भस्म करती है, परन्तु मेघस्थ अग्नि पलमात्र में दग्ध कर देती है। पृथिवीस्थ वह्नि दौड़ती नहीं, परन्तु मेघस्थ अग्नि क्षणमात्र में सहस्रों कोश दौड़ जाती है। जब किसी दारु से पावक प्रकट होता है तब उतना घोर नाद नहीं होता, परन्तु जब मेघ से अग्नि प्रकट होता है तब अति भयङ्कर गर्जन होता है, इत्यादि अनेक भेद देखते हैं।

आप देखते हैं कि मेघ में कैसा घोर नाद होता है? यह नाद करनेवाला कौन है?। मानो यह एक देव है। जो इतना गरज रहा है उसका नाम 'वज्र' है। इसी को कुलिश, भिदुर, पवि, शतकोटि, स्वरु, शम्ब, दम्भोलि, ह्लादिनी, अशनि कहते हैं। 'वज्र' शब्द पुल्लिङ्ग भी है। इस हेतु यह पुरुषदेव है। इसका गरजना मानो रोना है। जब यह रोता हुआ मेघ पर दौड़ता है तब भूमिस्थ प्राणी को भी रुला देता है। जिस हेतु यह रोता हुआ दौड़ता है, और अन्यान्य जीवों को भी भयभीत बना रुलाता है, इस हेतु इसी वज्र का नाम 'रुद्र' है। जब जीमूत अन्तरिक्ष में स्थिर रहता है तब इसका स्वरूप हिमालय पर्वत के समान ही भासित होता है। इसी हेतु वैदिक भाषा में पर्वत के जितने नाम हैं वे सबके सब मेघ के वाचक हैं। इस हेतु मेघ तो पर्वत है और मेघोत्पन्न विद्युत् पार्वती है। यह विद्यद्रूपा पार्वती रुद्रदेव की स्त्री है। मेघ पानी देता है, इस हेतु यह 'वृषभ' (वर्षा करनेवाला) कहलाता है। यह वृषभ (मेघ) रुद्र (वज्र) का वाहन है। यह रुद्र मानो मेघ पर बैठा हुआ है। जो विद्युत् चारों ओर चमकती हैं, वे इसके केश वा जटाँए हैं। इस हेतु यह वज्रदेव जटाजूट, केशी और धूर्जटि हैं। जो विद्युत् पृथिवी पर गिरती हैं, वे इसके बाण हैं और जो मेघ में धनुषाकार प्रकाशित होते हैं, वे इसके धनुष हैं। इसका नाम पिनाक है। यही पिनाक इसके हाथ में है। यह अपने विद्युद्रूप अस्त्र से सबको भस्म करता है, अतः इसका चिह्न भस्म है। मेघधारा, मानो शान्ति के हेतु इसके ऊपर गिर रही है। इसी हेतु यह गङ्गाधर है। मेघ की जो घटा है वही गजचर्म के समान है, अतः यह 'कृत्तिवासा'—चर्म के वस्त्रवाला है। मेघ के ठीक ऊपर चन्द्रमा निकलता हुआ दीखता है। इस हेतु यह रुद्र (वज्र) चन्द्रधर है। इसका जल ही भूषण है। यदि जल न हो तो इसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। पानी को 'अहि' कहते हैं। इस हेतु 'अहि' इसका भूषण है, परन्तु 'अहि' सर्प को भी कहते हैं, अतः

यह सर्पभूषण है। जब यह वज्र गिरता है तब इसका स्वरूप अतिशय महान् आकाश-पाताल व्यापक प्रतीत होता है, अतः यह 'महादेव' है। इसी हेतु इसका एक नाम शतकोटि भी है। यह अशनिदेव मेघरूपी वृषभ पर बैठ मेघ और विद्युत् आदि का शासन करता है, अतः यह ईश, ईशान, महेश आदि है। यह भयङ्कर रूप धारण कर पदार्थों को भस्म करता है, अतः संहारकर्त्ता है, परन्तु यही देव जल बरसाता है, जिससे विविध वनस्पति, लताप्रभृति पोषण पाती हैं, अतः यह ओषधीश्वर है और उन घासों से पशु पुष्ट होते हैं, अतः यह 'पशुपति' भी है। कभी मेघ श्वेत, कभी श्याम, कभी काला होता है, यही मेघवज्रदेव का कण्ठभूषण है, अतः नीलग्रीव, शितिकण्ठ वज्र ही है, इत्यादि विद्युद्देव के समग्र विशेषण इस रुद्र में समाप्त हैं। इस प्रकार निःसन्देह यह विद्युद्देव, अर्थात् वज्र का प्रतिनिधि है—मुख्यता इसी की है, परन्तु सम्पूर्ण अग्नेय शक्ति का यह प्रतिनिधि है। आगे के प्रमाणों से आप लोगों को विस्पष्ट बोध होगा।

हे सत्यप्रिय मनुष्यो! आपको विचारना चाहिए कि इस रुद्र के साथ इतनी उपाधियाँ क्यों हैं। इसका वाहन वृषभ—नन्दी (बैल), जटा में गङ्गा, शिर पर चन्द्रमा, शरीर पर सर्प, चर्म का वस्त्र, तीन नेत्र, पाँच मुख, बिल्वपत्र, त्रिशूल, रुद्राक्ष, पर्वत-निवास, कभी नग्न, कभी कृत्तिवासा, कभी सती, कभी पार्वती इसकी शक्ति, भूत-प्रेत साथी, इत्यादि उपाधियों का क्या कारण है। ये सब हमें क्या सूचित करते हैं। क्या ऐसा कोई व्यक्ति विशेष हुआ है या यह कल्पित्र है। मनुष्य ज्ञान के लिए उत्पन्न हुआ है। इस हेतु हमें विचार करना चाहिए। आगे हम रुद्र देव के एक-एक गुण पर विचार करेंगे। जिससे आप लोगों को पूर्ण बोध हो जाए कि यह महादेव कल्पित देव हैं। रुद्र के आजकल "**शम्भुरीशः, पशुपतिः, शिवः, शूली, महेश्वरः, ईश्वरः, शर्वः, ईशानः शङ्करश्चन्द्रशेखरः, भूतेशः, खण्डपरशुर्गिरीशः, गिरिशः, मृडः, मृत्युञ्जयः, कृत्तिवासाः, पिनाकी, प्रमथाधिपः**[1], इत्यादि" नाम हैं। इनको शम्भु, ईश, पशुपति, शिव, शूली, महेश्वर, ईश्वर, शर्व, ईशान, शङ्कर, चन्द्रशेखर आदि कहते हैं। वेदों में रुद्र शब्द का पाठ अधिक है। पुराणादिकों में भी इसी शब्द से आख्यायिका प्रारम्भ होती है, अतः इस शब्द की प्रधानता है। हम भी प्रथम इसी शब्द से निर्णय आरम्भ करते

---

१. अमर० प्रथमं काण्डम् १।३०-३१

हैं। इस देव का रुद्र नाम क्यों हुआ?

अग्निवाचक रुद्र शब्द

अग्निरपि रुद्र उच्यते। तस्यैषा भवति।
जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय।
स्तोमं रुद्राय दृशीकम्॥ —*नि० दै० ४।८*

'जराबोध' इस मन्त्र पर यास्क कहते हैं कि अग्नि भी रुद्र कहलाता है और इसके प्रमाण में यह ऋचा है। दुर्गाचार्य के अनुसार ऋचा का अर्थ लिखते हैं। हे भगवन्! अग्ने! जो (जरा) स्तुति में करता हूँ उसे आप (बोध) समझें। अथवा (जराबोध) स्तुतियों से यजमान के प्रयोजन को समझ देवों को समझानेवाले हे अग्निदेव! आप (यज्ञियाय) यज्ञ-सम्पादन करनेवाले (विशे+विशे) मनुष्य के लिए (तत्) उस-उस कार्य को (विविड्ढि) करें, जिस-जिसको आप उचित समझें। तब (रुद्राय) आपके लिए मनुष्य (दृशीकम्) दर्शनीय, उत्तम (स्तोमम्) स्तुति उच्चारण करेंगे। यहाँ अग्नि के लिए विशेषण होकर रुद्र शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ सायण अर्थ करते हैं कि (रुद्राय क्रूराय अग्नये) क्रूर अग्नि को रुद्र कहते हैं। क्रूराग्नि वज्र ही है। यहाँ रुद्र शब्द का अर्थ ईश्वर में भी घट सकता है। जो दुष्टों को दण्ड देवे। हे स्तुति से बोध्यमान प्रकाशस्वरूप ईश्वर! आप सब मनुष्यों के कर्त्तव्य को जानते हैं। आपके लिए ही उत्तम स्तोत्र हैं।

अग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जना वाजश्रवसमिह वृक्तबर्हिषः।
यतस्रुचः सुरुचं विश्वदेव्यं रुद्रं यज्ञानां साधदिष्टिमपसाम्॥
—*ऋ० ३।२।५*

अर्थ—(वृक्तबर्हिषः) बिछाये कुशासन पर बैठे हुए (यतस्रुचः) हाथ में स्रुवा लिये हुए (जनाः) यज्ञ करनेवाले ऋत्विक् जन (सुम्नाय) सुखार्थ (इह) यहाँ (अग्निम्) अग्नि को (पुरः) सामने (दधिरे) रखकर होमकर्म कर रहे हैं। अग्नि कैसे हैं? (वाजश्रवसम्) प्रत्येक वस्तु में गति देनेवाले, (सुरुचम्) सुन्दर दीप्तिवाले, (विश्वदेव्यम्) सब पदार्थों को सुख पहुँचानेवाले, (रुद्रम्) शीत-अन्धकारादिजनित दुःखों का नाश करनेवाले, (अपसाम्) कर्मवान् (यज्ञानाम्) यजमानों के (साधदिष्टिम्) इष्टकार्य को सिद्ध करनेवाले। ऐसे अग्नि को स्थापित कर ऋत्विक् होम कर रहे हैं। यहाँ प्रत्यक्ष ही अग्नि के विशेषणों में रुद्र शब्द आया है और शीतादि दुःखों का नाश करना अर्थ है।

आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम्॥

—ऋ० ४/३/१

अर्थ—ईश्वर उपदेश करता है कि हे मनुष्यो! तुम (वः+अवसे) अपनी रक्षार्थ (तनयित्नोः) विद्युत्समान अकस्मात् उपस्थित होनेवाले (अचित्तात्) मरण से (पुरा) पहले ही (अग्निम्+आकृणुध्वम्) अग्नि को शरण बनाओ, अर्थात् विविध कर्मों का सम्पादन करो। यहाँ अग्नि शब्द से कर्मकाण्ड का ग्रहण है। अग्नि कैसा है? (अध्वरस्य राजानम्) यज्ञ का अधिपति (रुद्रम्) शब्द करता हुआ बढ़नेवाला (होतारम्) होता (रोदस्योः) द्युलोक और पृथिवीलोक में (सत्ययजम्) परमात्मा के गुण प्रकट करनेवाला (हिरण्यरूपम्) हिरण्यवत् देदीप्यमान। यहाँ पर भी 'रुद्र' शब्द अग्नि का विशेषण है।

यहाँ सायण यह भी कहते हैं कि 'यद्वा एषा वा अग्नेस्तनूर्यद् रुद्र इति' निश्चय ही अग्नि का यह तनू है, जो यह रुद्र है। इस प्रकार अग्नि को भी रुद्र कहते हैं। यह वेदों की ऋचा से सिद्ध होता है। यहाँ शब्द करता हुआ बढ़नेवाला अर्थ है। जब अग्नि में गीली आहुति दी जाती है तब अग्नि से शब्द उत्पन्न होता है। इस कारण अग्नि रुद्र है॥

रुद्र और विद्युत्

या ते विद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः।
सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः॥

—ऋ० ७/४६/३

अर्थ—हे रुद्र! तुम्हारी जो (दिवः+परि) अन्तरिक्ष से (अवसृष्टा) दूर फेंकी हुई (विद्युत्) विद्युत्=बिजली है और जो (क्ष्मया+चरति) पृथिवी पर विचरण कर रही है, अर्थात् आकाश से फेंकी हुई जो विद्युत् पृथिवी पर गिरा करती है (सा) वह (नः) हमको (परि+वृणक्तु) छोड़ दे, हमारी हिंसा न करे। (स्वपिवात) हे सोये हुए प्राणियों को जगानेवाले रुद्र! [वज्र के गर्जन से कौन आदमी नहीं डर उठता है] (ते) तुम्हारे जो (सहस्रम्+भेषजा) सहस्रों औषध हैं, वे हमें प्राप्त होवें। हे रुद्र! (नः) हमारे (तोकेषु) पुत्रों को (तनयेषु) पौत्रों को (मा+रीरिषः) मत मारो।

यहाँ विद्युत् के अधिष्ठातृदेव वज्र का नाम रुद्र है, अर्थात् जिस

आग्नेयशक्ति के प्रताप से विद्युत् पृथिवी पर गिर विविध हानि करती है, उसका नाम रुद्र है। यहाँ विद्युत् रुद्र का अस्त्र है।

विद्युत् वाचक रुद्र शब्द

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्।
तेषाᳬंसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥[1]

अर्थः—(असंख्याता) असंख्याता (सहस्राणि) सहस्रों (ये) जो (रुद्राः) बिजलियाँ (अधिभूम्याम्) पृथिवी पर विद्यमान् हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) धनुषों को (सहस्रयोजने) सहस्रयोजन दूर (अव+तन्मसि) फैंक दो।

यहाँ 'रुद्राः' बहुवचन है और इसके विशेषण में आसंख्यात सहस्र शब्द आये हैं। वे सहस्रों 'रुद्र' कौन हैं, जिनको हज़ारों योजन दूर फैंकते हैं? निःसन्देह वे विद्युत् हैं। आगे के प्रमाण से विस्पष्ट होगा।

येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्।
तेषाᳬंसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥

—*यजुः० १६/६२*

अर्थ—(ये) जो रुद्र (अन्नेषु) अन्नों के (पात्रेषु) पात्रों पर गिरकर (पिबतः+जनान्) खाने-पीनेवाले प्राणियों का (विविध्यन्ति) ताड़न करते हैं। उनके धनुषों को सहस्र योजन दूर फैंक दो॥

ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः।
तेषाᳬंसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥ ६१॥

अर्थ—जो रुद्र हमारे सरोवर, नदी आदि स्थानों पर गिरते हैं, उन्हें भी दूर करो।

अस्मिन् महत्यर्णवेऽअन्तरिक्षे भवा अधि।
तेषाᳬंसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥ ५५॥
नीलग्रीवाः शितिकण्ठा दिवᳬं रुद्रा उपश्रिताः।
तेषाᳬंसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥ ५६॥
नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा अधःक्षमाचराः।
तेषाᳬंसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥ ५७॥
ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः।
तेषाᳬंसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि॥ ५८॥[2]

---

१. यजुः० १६।५४ २. यजुः० १६।५५-५८

भावार्थ—यहाँ वेद में दिखलाया गया है कि क्या बिजली, क्या पृथिवी, क्या मेघ, क्या सूर्य, क्या अन्यत्र, सर्वत्र विद्यमान है। जो रुद्र=विद्युत् जलवाले महान् आकाश में उत्पन्न होते हैं, जो द्युलोक में नीलग्रीव और शितिकण्ठ प्रतीत होते हैं, जो पृथिवी और ओषधियों में व्यापक हैं और जो हमारी हानि करनेवाली हैं, उनको भगवन्! दूर करो।

इन ऋचाओं पर बहुत ध्यान देना चाहिए, क्योंकि यहाँ परमेश्वर से प्रार्थना है कि रुद्रों को हमसे अलग कर दो। यदि रुद्र कोई शुभकारी देव होते तो इनके अस्त्र दूर क्यों फैंके जाएँ। विष्णु के अस्त्र—शंख, चक्र को अपनी रक्षा के लिए अपने समीप बुलाते हैं, परन्तु यहाँ विपरीत देखते हैं। इस हेतु रुद्र यहाँ कोई क्रूर देव हैं। वे कौन हैं? वे विद्युत् वा वज्र हैं। यहाँ विशेषकर ध्यान देने की बात यह है कि इसी रुद्र, अर्थात् विद्युत् के विशेषण में नीलग्रीव, शीतिकण्ठ आदि शब्द आये हैं जो महादेव के विशेषण में आजकल आते हैं—

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्त्राम्बिकाया तं जुषस्व स्वाहा।
एष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः॥ —*यजुः० ३।५७*

इस ऋचा का व्याख्यान आगे करेंगे। इस ऋचा के भाष्य में महीधर लिखते हैं—

योऽयं रुद्राख्यः क्रूरो देवस्तस्य विरोधिनं हन्तुमिच्छा भवति तदानया भगिन्या क्रूरदेवतया साधनभूतया तं हिनस्ति। सा चाम्बिका शरद्रूपं प्राप्य जरादिकमुत्पाद्य तं विरोधिनं हन्ति।

जो यह रुद्र नामक क्रूर देव है उसे जब शत्रु के मारने की इच्छा होती है तब-तब इस क्रूर भगिनी अम्बिका को अस्त्र बनाकर मारता है और वह अम्बिका शरद्रूप धर, ज्वरादि रोग को उत्पन्न कर उस विरोधी को मारती है।

यहाँ पर महीधर भी 'रुद्र' और उनकी बहिन अम्बिका को क्रूर कहते हैं। इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि 'रुद्र' नाम वज्र का है। अथवा यह मानो कि उन बिजलियों का भी एक अधिष्ठातृ देव है, जो इनका शासन करता है। उसी का नाम यहाँ रुद्र है। आगे के निरूपण से आप लोगों को अच्छे प्रकार ज्ञात होगा कि विद्युद्देव के स्थान में यह रुद्र विशेषकर बनाये गये हैं। रुद्र-सम्बन्धी ऋचाओं का अर्थ प्रसङ्ग से आगे करेंगे। अब रुद्र की उत्पत्त्यादि

धर्म से आप परीक्षा करें कि यह महादेव कौन हैं?

रुद्र की उत्पत्ति और रुद्र नाम होने के कारण

सनकं च सनन्दं च सनातनमथात्मभूः।
सनत्कुमारं च मुनीन् निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः॥ ४॥
तान् बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाःसृजत पुत्रकाः।
तन्नैच्छन् मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः॥ ५॥
सोऽवध्यातःसुतैरेवं प्रत्याख्यातानुशासनैः।
क्रोधं दुर्विषहं जातं नियन्तुमुपचक्रमे॥ ६॥
धिया निगृह्यमाणोऽपि भ्रुवोर्मध्यात्प्रजापतेः।
सद्योऽजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहितः॥ ७॥
स वै रुरोद देवानां पूर्वजो भगवन् भवः।
नामानि कुरु मे धातः स्थानानि जगद्गुरो॥ ८॥
इति तस्य वचः पाद्मो भगवान् परिपालयन्।
अभ्यधाद्भद्रया वाचा मा रोदीस्तत्करोमि ते॥ ९॥

अर्थ—एक समय ब्रह्माजी निष्क्रिय और ऊर्ध्वरेता सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चारों पुत्रों से कहने लगे कि हे सौम्य! आप प्रजाएँ बढ़ावें, परन्तु मुमुक्षु और वासुदेवपरायण उन सनकादि ने यह पसन्द नहीं किया। इस प्रकार अनुशासन-भंग करनेवाले पुत्रों से निराश ब्रह्माजी को अत्यन्त क्रोध उत्पन्न हुआ। उन्होंने क्रोध को दबाने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु न दबा सके। इसके पश्चात् ब्रह्मा की भ्रू (भौंह) के मध्य से एक नीललोहित कुमार उत्पन्न हुआ। तत्काल ही वह रोने लगा और रोता हुआ बोला कि धाता! मुझे नाम और स्थान देवें। ब्रह्माजी इसका वचन सुन बोले कि तू मत रो। मैं तुझको नाम और स्थान देता हूँ।

यदरोदीः सुरश्रेष्ठ सोद्वेग इव बालकः।
ततस्त्वामभिधास्यन्ति नाम्ना रुद्र इति प्रजाः॥ १०॥
हृदिन्द्रियाण्यसुर्व्योम वायुरग्निर्जलं मही।
सूर्यचन्द्रस्तपश्चैव स्थानान्यग्रे कृतानि मे॥ ११॥ इत्यादि

—*भागवत ३।१२*

अर्थ—जिस हेतु आप जन्म लेते ही 'रोदन' करने लगे इस हेतु प्रजाएँ आपको 'रुद्र' नाम से पुकारेंगी। यह आपका मुख्य नाम

हुआ। हृदय, इन्द्रिय, असु, (प्राण) आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र और तप ये आपके स्थान हैं। इडा, अम्बिका, रुद्राणी आदि आपकी स्त्रियाँ होंगी, इत्यादि कथा भागवत में देखिए—

कल्पादावात्मनस्तुल्यं सुतं प्रध्यायतस्ततः।
प्रादुरासीत्प्रभोरङ्के कुमारो नीललोहितः॥ २॥
रुदन् वै सुस्वरं सोऽथ द्रवश्च द्विजसत्तम।
किं रोदिषीति तं ब्रह्मा रुदन्तं प्रत्युवाच ह॥ ३॥
नाम देहीति तं सोऽथ प्रत्युवाच प्रजापतिः।
रुद्रस्त्वं देव नाम्नासि मा रोदीर्धैर्यमावह।
एवमुक्तः पुनः सोऽथ सप्तकृत्वो रुरोद वै॥ ४॥
ततोऽन्यानि ददौ तस्मै सप्त नामानि वै प्रभुः॥ ५॥
भवं शर्वं महेशानं तथा पशुपतिं द्विज।
भीममुग्रं महादेवमुवाच स पितामहः॥ ६॥

—विष्णुपुराण प्रथम अंश अ० ८

अर्थ—कल्पादि में स्वसमान पुत्र चाहते हुए ब्रह्माजी की गोद में सुस्वर रोता और दौड़ता हुआ नीललोहित एक बालक उत्पन्न हुआ। उसे रोता देखकर पूछा तू क्यों रोता है, इस प्रकार ब्रह्माजी उसे समझाते हुए बोले। रोते हुए उसने कहा मेरा नाम-संस्कार करो। ब्रह्माजी ने कहा—हे देव! तेरा नाम 'रुद्र' होगा। तू मत रो, धैर्य धर, परन्तु पुनः वह सात बार रोया। अतः ब्रह्माजी ने इसको सात नाम और दिये, भव, शर्व, महेशान, पशुपति, भीम, उग्र और महादेव।

कथा का आशय—इस पौराणिक वर्णन पर अवश्य ध्यान देना चाहिए, यद्यपि रुद्र के यथार्थ तात्पर्य को ये लोग भूल बैठे थे, तथापि कुछ-कुछ प्राचीन कथा से इन लोगों ने भी सम्बन्ध रक्खा है। अब विचार कीजिए। प्रजापति (ब्रह्मा) क्रुद्ध हुए। रोता हुआ वह कुमार उत्पन्न हुआ। इस हेतु इसका नाम रुद्र हुआ और अन्यान्य नाम भी इसके उग्र, पशुपति आदि हुए। यह सब वर्णन क्या सूचित करता है? हे विज्ञानप्रवर आर्यो! विचारो। निःसन्देह यह वज्र वा विद्युत्=(Lightning, Thunderbolt) की उत्पत्ति का निरूपण है। यहाँ भागवत के शब्दों पर ध्यान दीजिए। प्रजापति शब्द का यहाँ प्रयोग है। मेघ, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, आदि सर्वदेवों के विशेषण

में प्रजापति शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ वायु और मेघ प्रजापति हैं। मेघ से वज्र कब उत्पन्न होता है? जब बड़े वेग से वायु चलना आरम्भ होता है उस समय मेघ-मालाएँ परस्पर टकराती हैं। घोर नाद होने लगता है। प्राणी कम्पायमान हो जाते हैं। क्रोधाग्नि के समान विद्युत् इधर-उधर चमकने लगती है। इस प्रकार वायु के कारण जब पर्जन्य भगवान् बड़े क्रोध में जलने लगते हैं, उस समय रोते हुए और जगत् को रुलाते हुए मेघ से वज्रदेव बड़ी तीक्ष्णता से दौड़ते हैं। ये बड़े लाल होते है और नीले-नीले मेघ इनके चारों ओर रहते हैं। इस हेतु ये नीलवर्ण भासित होते हैं। इस हेतु इस वज्रदेव को नीललोहित कहते हैं। लोहित=लाल। जिस हेतु रोता और रुलाता हुआ यह वज्र दौड़ता है, अतः इसका नाम रुद्र होता है—"रुदन् द्रवति धावतीति रुद्रः", रोते हुए दौड़नेवाले को रुद्र कहते हैं। यही व्युत्पत्ति विष्णुपुराण में है। ऊपर के श्लोक देखिए। महादेव का जन्म हमें सूचित करता है कि ये निःसन्देह वज्रदेव के प्रतिनिधि हैं।

रुद्र की उत्पत्ति और शतपथब्राह्मण

प्रियविद्य जिज्ञासुओ! यजुर्वेदीय शतपथब्राह्मण में एतत्सम्बन्धी अतिमनोहर और रोचक वर्णन है। इस हेतु आपको इसका भाव सुनाते हैं। इसके वर्णन से आपको असन्दिग्ध प्रतीति उपजेगी कि यथार्थ में रुद्र कौन है—

अभूद्वा इयं प्रतिष्ठेति। तद् भूमिरभवत्तामप्रथयत्। सा च पतिः संवत्सरायादीक्षन्त भूतानां पृथिव्यभवत्। तस्यामस्यां प्रतिष्ठायां भूतानि च भूतानां पतिर्गृहपतिरासीत्। उषाः पत्नी। तद्यानि तानि भूतानि ऋतवस्ते। अथ यः स भूतानां पतिः संवत्सरः सोऽथ या सोषाः पत्नी औषसी सा तानीमानि भूतानि च भूतानां च पतिः संवत्सर उषसि रेतोऽसिञ्चन्त्स संवत्सरे कुमारोऽजायत। सोऽरोदीत्॥

—काण्ड ६। अध्याय १। ब्राह्मण ३। कण्डिका ७-८

यहाँ आग्नेय शक्ति की व्यापकता दर्शाने के हेतु इस प्रकरण का आरम्भ किया है। इसमें सन्देह नहीं कि जो सृष्टितत्त्ववित् विज्ञानी हैं, वे निमित्तकारण ईश्वर को छोड़ इस सौर जगत् का मुख्य कारण सूर्य को कहते हैं। क्रमशः उसी सूर्याग्नि से एक पार्थिव गोलक निकला जो बनते-बनते कई लक्ष वर्षों के अनन्तर सब प्राणियों की प्रतिष्ठा के योग्य हुआ। इसपर पर्वत, समुद्र, वनस्पति, ओषधि, पर्जन्य, विविध पशु, पक्षी, मनुष्यादि भूत उत्पन्न किये गये। इस

पृथिवी से बहुत दूर सूर्य स्थापित किया गया। वह इसपर उष्णता पहुँचाने लगा। अपनी-अपनी प्रदत्त शक्ति के अनुसार प्रत्येक पदार्थ उष्णता धारण करने लगे। उससे एक कुमार उत्पन्न हुआ। वह रोने लगा।

भाव यह है कि जब किसी वस्तु में अग्नि उत्पन्न होता है तब उससे यत्किञ्चित् शब्द अवश्य हुआ करता है। आर्द्र पदार्थ में आग लगने से बहुत नाद होता है। शुष्क पदार्थ के भी पर्व-पर्व से चट-चट शब्द उत्पन्न होता है। प्रत्येक पदार्थ में अग्निशक्ति का होना ही कुमार का जन्म है और नाद होना ही इसका रोना है। आगे हम अभीष्ट वाक्यों को उद्धृत करेंगे, अन्यान्य वाक्यों को छोड़ देंगे॥

तं प्रजापतिरब्रवीत्। कुमार! किं रोदिषि। सोऽब्रवीत्। नाम मे धेहीति॥ ९॥ तमब्रवीद् रुद्रोऽसि इति। तद्यदस्य तन्नाम अकरोद् अग्निस्तद्रूपमभवत्। अग्निर्वै रुद्रो यदरोदीत्। तस्माद् रुद्रः। सोऽब्रवीत्। ज्यायान्वा अतोऽस्मि। धेह्येव मे नामेति॥ १०॥ तमब्रवीत्। सर्वोऽसीति। यद्यदस्य तन्नामाकरोत्। आपस्तद्रूपमभवन्नापो वै सर्वः। अद्भ्यो हीदꣳ सर्वं जायते। सोऽब्रवीत्। ज्यायान्वा अतोऽस्मि। धेह्येव मे नामेति॥ ११॥

अर्थ—प्रजापति बोले—हे कुमार! तू क्यों रोता है? उसने कहा कि मुझे नाम दो। मेरा नाम रक्खो॥ ९॥ प्रजापति ने कहा—तू 'रुद्र' है। उसका यह 'रुद्र' नाम शुद्ध अग्निसूचक है, अग्नि ही रुद्र है। जिस हेतु यह रोने लगा, अतः यह रुद्र कहलाता है। तत्पश्चात् प्रजापति से वह कुमार कहने लगा कि निश्चय मैं इससे 'ज्यायान्' अधिक हूँ, मुझे अन्य नाम भी दीजिए॥ १०॥ प्रजापति ने कहा—तू सर्व है। इसका यह सर्व नाम जल में व्यापकता और जलदायित्व सूचक हैं, क्योंकि जल से ही सब उत्पन्न होता है। पुनः वह कुमार बोला—मैं इससे भी 'ज्यायान्'—अधिक हूँ मेरा और भी नाम रखिए॥ ११॥

प्रजापति ने कहा—तू 'पशुपति' है। इसका यह पशुपति नाम ओषधिसूचक है। ओषधि ही पशुपति (पशुओं का पालक) है। जब पशु ओषधि पाते हैं तब वे पुष्ट होकर स्वामी के योग्य होते हैं। पुनः वह कुमार बोला कि निश्चय मैं इससे भी अधिक हूँ मेरा और भी नाम कीजिए॥ १२॥ प्रजापति ने कहा कि तू 'उग्र' है इसका यह 'उग्र' नाम वायुवृद्धि सूचक है। निश्चय ही 'वायु' उग्र है। इस हेतु जब वायु बड़े वेग से चलता है तब लोग कहते हैं कि सम्प्रति

वायु बड़ा उग्र है। पुनः वह कुमार बोला—मैं इससे भी अधिक हूँ, अतः मेरा और भी नाम कीजिए॥ १३॥ प्रजापति ने कहा तू 'अशनि' है। इसका यह 'अशनि' नाम विद्युत् सूचक है। निश्चय ही विद्युत् अशनि है। इस हेतु जिसको विद्युत् मारती है उसको लोग कहते हैं कि इसको अशनि ने मारा है, पुनः वह कुमार बोला—मैं इससे भी अधिक हूँ, अतः मेरा अन्य नाम भी रखिए॥ १४॥ प्रजापति ने कहा—तू 'भव' है। इसका यह 'भव' नाम पर्जन्य (मेघ) सूचक है। निश्चय ही पर्जन्य भव है, क्योंकि पर्जन्य से यह सब-कुछ होता है। पुनः वह कुमार बोला—मैं इससे भी अधिक हूँ, अतः मेरा अन्य नाम रखिए॥ १५॥ प्रजापति ने कहा तू 'महान् देव' है। इसका महान् देव नाम चन्द्रमा सूचक है। प्रजापति ही चन्द्रमा है। निश्चय ही प्रजापति महान् देव है। पुनः वह कुमार बोला—मैं इससे भी अधिक हूँ, अतः मेरा अन्य नाम भी रखिए॥ १६॥ प्रजापति ने कहा—तू 'ईशान' है। इसका यह ईशान नाम आदित्य की व्यापकता सूचक है। निश्चय ही आदित्य ईशान है। वही सबका शासन करता है। इसके अनन्तर वह कुमार बोला—बस, मैं इतना हूँ, इसके आगे नाम मत कीजिए। "**तान्येतान्यष्टावग्निरूपाणि कुमारो नवमः सैवाग्नेस्त्रिवृत्ता**[1]" ये आठों अग्नि के रूप हैं। नवम कुमार है।

सोऽयं कुमारो रूपाण्यनुप्राविशत्। न वा अग्निं कुमारमिव पश्यन्ति। एतान्येवास्य रूपाणि पश्यन्ति। एतानि हि रूपाण्यनु प्राविशत्॥ १९॥

जो यह कुमाररूप अग्नि है, वह सब रूपों में अनुप्रविष्ट है। इस कुमाररूप को कोई नहीं देखता। इन्हीं रूपों को देखते हैं। इन्हीं रूपों में यह प्रविष्ट है॥ १९॥

शतपथ का यह प्रकरण हमें सूचित करता है कि एक महान् अग्निशक्ति है, जो पृथिवी से लेकर सूर्यपर्यन्त व्यापक है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक इन तीनों में अग्नि है, अतः अग्नि 'त्रिवृत्' है। इन वाक्यों पर बहुत कुछ विचारणीय है। जब इस कुमार को आदित्य-सूचक 'ईशान' नाम दिया गया तब इसने कहा कि बस, मैं इतना ही हूँ। यह वाक्य विस्पष्ट बोध कराता है कि यह अग्नि का वर्णन है, क्योंकि 'आदित्य' से बढ़कर कोई आग्नेय-शक्ति नहीं है। इस हेतु इससे आगे इसका नाम नहीं हो सकता। रुद्र से लेकर

---

१. शत० ६।१।३।१८

ईशान तक नाम समाप्त हो जाते हैं। अग्नि केवल पृथिवी पर ही नहीं है। इस हेतु अग्नि कहता है कि मैं इससे अधिक हूँ। जब मेघस्थ सूचक 'भव' नाम दिया तब पुनः कहता है कि इससे भी अधिक हूँ, क्योंकि अग्नि मेघ तक ही नहीं है, इससे ऊपर भी विद्यमान है। जब यह निज योनि आदित्य तक पहुँचता है तब वह 'बस' कहता है। इस पृथिवी के लिए इस आदित्य से आगे के अग्नि की आवश्यकता नहीं है, अतः यह वर्णन अग्नि का ही है। जो नाम आजकल महादेव के हैं, वे ही नाम यहाँ पर भी हैं। रुद्र, सर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महान्‌देव, (महादेव) ईशान और कुमार। अमरकोश में महादेव के नाम देखिए। उन नामों का अर्थ आगे करेंगे। सत्यान्वेषि विद्वानो! कहाँ अग्नि का वर्णन, कहाँ आज महान् रुद्रदेव की सृष्टि, जिस देव के विषय में आज लक्षों श्लोक बन गये हैं। यह केवल अग्निशक्ति है। अग्नि की व्यापकता के सम्बन्ध में वेदमन्त्र में कहा गया है—

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥

—ऋ० २।१।१

अर्थः—हे अग्ने! तू सूर्य से, तू पानी से, अर्थात् मेघ से, तू प्रस्तर से, तू वन से, तू ओषधि से उत्पन्न होता है। इत्यादि—

रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति

रुद्रो रौतीति सतो रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा।
यदरुदत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्॥
यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्।

—निरु० दै० १०।६

बृहद्देवता में इसी विद्युत् को रुद्र कहा है, यथा—

अरोदीदन्तरिक्षे यद्विद्युद् वृष्टिं ददन्नृणाम्।
चतुर्भिर्ऋषिभिस्तेन रुद्र इत्याभिसंस्तुतः॥ २। ३५॥

जिस कारण अन्तरिक्ष में यह विद्युद्देव रोता रहता है और मनुष्यों के हितार्थ वृष्टि किया करता है इस हेतु इसको 'रुद्र' कहा है। तीन धातुओं से इसको यास्काचार्य सिद्ध करते हैं। (रौति=रु शब्दे) शब्दार्थ 'रु' धातु से 'रु' और दु=गतौ गत्यर्थक 'द्रु'—इन दो धातुओं से और (रुदिर् अश्रुविमोचने) ण्यन्त 'रोद' धातु से—इन धातुओं

से रुद्र सिद्धि होता है। 'रुद्र' धातु से भी 'रुद्र' सिद्ध होगा, इत्यादि वैयाकरणों का भी मत देखिए। इसका रुद्र नाम ही सूचित करता है कि यह वज्रदेव का वर्णन है।

रुद्र और निवास-स्थान पर्वत

पुराणों में महादेव का स्थान पर्वत माना गया है। जैसे विष्णुजी क्षीरसागर में रहते हैं, वैसे ही महादेव जी कैलास पर्वत पर विराजमान रहते हैं। इसी हेतु इनको गिरीश, पर्वतशायी आदि नाम देते हैं। पर्वत इनका निवासस्थान क्यों माना गया है। इसमें भी वज्र और द्व्यर्थक (दो अर्थवाले) शब्द ही कारण हैं। शब्दतत्त्वविद् विद्वानो! वैदिक भाषा में मेघ और पर्वतवाचक बहुत-से शब्द समान ही हैं। पर्वत, गिरि, अद्रि, ग्रावा आदि शब्द मेघ और पर्वत दोनों अर्थों में समान रीति से वेदों में प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु आजकल पर्वत, गिरि, अद्रि आदि शब्द मेघार्थ में कदापि प्रयुक्त नहीं होते। अब आप लोग विचार सकते हैं कि महादेव का निवासस्थान पर्वत क्यों माना गया है। रुद्र जो 'वज्र' वा 'विद्युद्देव' वह 'गिरि'=मेघ में निवास करता है, यह प्रत्यक्ष है। जब रुद्रस्थानीय एक देव पृथक् कल्पित हुए तब इनका भूमिस्थ पर्वत निवासस्थान माना गया। यह बहुत ही समुचित है। अब इसमें दो एक प्रमाण देते हैं। इनपर पूर्ण रीति से ध्यान दीजिए।

अद्रिः। ग्रावा। गोत्राः। वलः। अश्नः। पुरुभोजः। बलिशानः। अश्मा। पर्वतः। गिरिः। व्रजः। चरुः। वराहः। शम्बरः। रौहिणः। रैवतः। फलिगः। उपरः। उपलः। चमसः। अहिः। अभ्रम्। वलाहकः। मेघः। दृतिः। ओदनः। वृषन्धिः। वृत्रः। असुरः। कोशः। इति त्रिंशन्मेघनामानि॥ —*निघण्टु १।१०*

निघण्टु वैदिक कोष है। इसमें आप देखते हैं कि अद्रि, ग्रावा गोत्र, अश्मा, पर्वत, गिरि आदि मेघ के नाम हैं, परन्तु ये सब नाम आजकल केवल पर्वत=पहाड़ के ही होते हैं, यथा—

महीध्रे शिखरि क्ष्माभृदहार्य्यधरपर्वताः।
अद्रिगोत्रगिरिग्रावाऽचलशैलशिलोच्चयाः॥

—अमरकोश शैलवर्ग[1]

महीध्र, शिखरी, क्ष्माभृत्, अहार्य्य, धर, पर्वत, अद्रि, गोत्र, गिरि,

---

१. अमर० द्वितीयं काण्डम्, शैलवर्गः ३।१

ग्रावा, अचल, शैल, शिलोच्चय—ये तेरह नाम पहाड़ के हैं। अब मेघ के अर्वाचीन नाम देखिए।

अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः।
धाराधरो जलधरस्तडित्वान् वारिदोऽम्बुभृत्।
घनजीमूतमुदिरजलमुग्धूमयोनयः ॥

—अमरकोश दिग्वर्ग॥[1]

अभ्र, मेघ, वारिवाह, स्तनयित्नु, बलाहक, धाराधर, जलधर, तडित्वान्, वारिद, अम्बुभृत्, घन, जीमूत, मुदिर, जलमुक् और धूमयोनि—ये पन्दरह नाम मेघ के हैं।

आजकल के मेघ के नामों में आप देखते हैं कि अद्रि, पर्वत, गोत्र, अश्मा; आदि शब्द नहीं है। इसी हेतु वैदिक और लौकिक अर्थ में महान् अन्तर हो गया है।

मेघनामानि उत्तराणि त्रिंशत्। मेघः कस्मान्महेतीति सतः। आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः॥

—नि० २।४।२१

यास्काचार्य मेघ के नामों के व्याख्यान में कहते हैं की मेघ के ३० नाम हैं। इनमें अद्रि से लेकर ऊपर-ऊपर तक जो सत्रह नाम हैं वे मेघ और पर्वत इन दोनों के हैं। पुनः प्रसंगवशतः इन नामों के व्याख्यान भी करते गये हैं, यथा (मेघोऽपि गिरिरेतस्मादेव। निरुक्त १-३०) इसी कारण मेघ को भी "गिरि" कहते हैं। आजकल 'गिरि' केवल पर्वत के ही अर्थ में आता है।

गिरौ मेघे स्थितो वृष्टिद्वारेण शं तनोतीति 'गिरिशन्तः'॥

—यजुः० १६।२[2]

यजुर्वेद के षोडशाध्याय के द्वितीय मन्त्र के व्याख्यान में महीधर भी 'गिरि' शब्द का अर्थ मेघ ही करते हैं। इसी प्रकार पर्वत, अद्रि आदि शब्दों के भी मेघ अर्थ सब भाष्यकर करते गये हैं। वेदों में इसके बहुत-से उदाहरण विद्यमान् हैं। देखिए—

बळित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवि।
प्र या भूमिं प्रवत्वति मह्ना जिनोषि महिनि॥

—निरुक्त दै० ११।३७

---

१. अमर० प्रथमं काण्डम्, दिग्वर्ग ३।६

२. यजुः० १६।२ पर महीधरभाष्य।

महान्तमिन्द्र पर्वतं वियद्वः सृजो विधारा अव दानवं हन्॥

—*नि० दै० ४।७*

यास्काचार्य इन स्थानों में ''पर्वतानां मेघानाम्'', 'पर्वतं मेघम्' पर्वत शब्द का अर्थ मेघ ही करते हैं।

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आसूर्यं रोहयद्दिवि।
वि गोभिरद्रिमैरयत्॥ — *ऋ० १।७।३*

इस ऋचा में आये हुए ''अद्रि'' शब्द का अर्थ सायण मेघ करते हैं। हम कहाँ तक उदाहरण देवें। आप लोग स्वयं वेद पढ़कर देखें। आजकल जो-जो शब्द हिमालय, विन्ध्याचल-प्रभृति पर्वत के वाचक हैं, वे प्रायः वेदों में मेघवाचक भी हैं। अब आप लोगों को पूर्ण विश्वास हो गया होगा कि वैदिक समय में अद्रि, पर्वत, गिरि आदि शब्द द्व्यर्थक थे। इसी हेतु वज्र-स्थानीय रुद्र वा महादेवजी का स्थान गिरि कहा गया है। पर्वतों में कैलास प्रसिद्ध है उसपर सर्वदा हिम जमा रहता है, इस हेतु महादेवजी का स्थान कैलास है, परन्तु ''रुद्र'' शब्द का अधिक प्रयोग आता है, कैलास का प्रयोग प्रायः वेद में नहीं है। अमरकोश में भी गिरिश वा गिरीश कहा है।

रुद्र और वृषभवाहन

महादेव का बैल वाहन क्यों है? विष्णु और ब्रह्मा के वाहन विहंग हैं, परन्तु महादेव का पशु क्यों? इसका भी कारण विद्युद्देव ही हैं। वृषभ वा वृषव मेघ और बैल दोनों को कहते हैं। वृष, वर्षण, वृष्टि, वर्षा, वृषभ, वर्षिता इत्यादि शब्दों का ही धातु है 'वृषु, वृपु, मृषु सेचने'। वृष धातु का अर्थ सींचना है। 'वर्षति सिञ्चति यः स वृषः' जो जल से पृथिवी को सींचे उसे वृष कहते हैं। ''इगुपधज्ञाप्रीकिरःकः'' ३।१।१३५। इस सूत्र के अनुसार वृष् धातु से 'क' प्रत्यय होकर वृष शब्द सिद्ध हो जाता है और इसी से वृषभ भी बनता है। वृष और वृषभ का एक ही धातु ''वृष सेचने'' यास्काचार्यादि ने माना है।

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत्॥[1]

यास्काचार्य इस ऋचा की व्याख्या में ''वृषभस्य वर्षितुरपां'' वृषभ शब्द का अर्थ जल की वर्षा करनेवाला करते हैं। पुनः—

---

१. ऋ० १।५९।६

वृषभः प्रजां वर्षतीति वाति बृहति रेत इति वा
तद् वृषकर्मा वर्षणाद् वृषभः। तस्यैषा भवति॥

—नि० दै० ९।२२

अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि वृष वा वृषभ वर्षा करनेवाले पदार्थ को कहते हैं। अब विस्पष्ट हो गया कि महादेव का वाहन बैल क्यों रक्खा? रुद्र, अर्थात् वज्रदेव का वाहन वृषभ, अर्थात् वर्षा करनेवाला मेघ है। यह प्रत्यक्ष है, परन्तु जब एक वज्र-स्थानीय देव कल्पित हो पृथिवी पर पूजार्थ लाये गये तब उनके लिए आवश्यक हुआ कि पृथिवीस्थ वृषभ (बैल) इनका वाहन कल्पित हो, अतः रुद्र का वाहन वृषभ है।

वाहन और ध्वज—पौराणिक कल्पित देवों के वाहन और ध्वजा-पताका एक ही होते हैं। जो वाहन वही ध्वजा। जैसे विष्णु को 'गरुड़ वाहन' व 'गरुड़ध्वज' दोनों कहते हैं, वैसे ही रुद्र को भी 'वृषभवाहन और वृषभध्वज' दोनों कहेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि 'ध्वज' वा पताका का लक्ष्यार्थ चिह्न ही है। वज्र वा विद्युत् का चिह्न मेघ ही है। जब मेघ आता है तभी लोग अनुमान करते हैं कि कदाचित् आज वज्र वा पत्थर (ओले) वा विद्युत् गिरेंगे। इस हेतु वज्र का चिह्न भी वृषभ, अर्थात् मेघ ही है, अतएव रुद्र का वाहन और ध्वजा दोनों ही वृषभ हैं। इसी प्रकार अन्यान्य देवों के वाहन-पताका जानने चाहिएँ।

मेघवाचक वृषभशब्द

अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास।
कनिक्रदद् वृषभो जीरदानू रेतो दधात्योषधीषु गर्भम्॥

—ऋ० ५।८३।१

ईश्वर विद्वान् के प्रति कहता है—हे विद्वज्जन! आप (तवसम्) बलवान् (पर्जन्यम्) मेघ को (अच्छ) प्राप्त करके (आभिः, गीर्भिः) मेरे इन उपदिष्ट वचनों से, अर्थात् मेरे उपदेश के अनुसार (स्तुहि) मेघ के गुणों को प्रकाशित करो और (नमसा) बड़ी नम्रता से (विवास) बारम्बार इसकी सेवा करो, अर्थात् मेघ-सम्बन्धी विद्या के अध्ययन में श्रद्धा करो। जो पर्जन्य (कनिक्रदद्) अत्यन्त गर्जन करनेवाला है (वृषभः) वर्षा देनेवाला है (जीरदानुः) जिसका दान शीघ्र होता है और (ओषधीषु) जितने प्रकार की वनस्पतियाँ हैं—

क्या गेहूँ, जो आदि, क्या लता-वीरुद्ध, क्या आम्रप्रभृति वृक्ष, सभी ओषधियाँ कहलाती हैं। इन ओषधियों में (गर्भम्+रेतः) बीजरूप जल को (दधाति) स्थापित करता है।

पर्जन्य=मेघ के लिए 'वृषभ' शब्द का पाठ यहाँ प्रत्यक्ष है। सायणाचार्य (वृषभोऽपां वर्षिता) वृषभ का जल-वर्षिता=जल वर्षा करनेवाला अर्थ करते हैं। इस सम्पूर्ण सूक्त का देवता पर्जन्य है। यह पर्जन्यसूक्त अत्युत्तम है।

प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति॥ ४॥
यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति यस्य व्रते शफवज्जर्भुरीति।
यस्य व्रत ओषधीर्विश्वरूपाः स नः पर्जन्य महि शर्म यच्छ॥ ५॥
यत्पर्जन्यकनिक्रदत् स्तनयन् हंसि दुष्कृतः।
प्रतीदं विश्वं मोदते यत्किं च पृथिव्यामधि॥ ९॥[१]

अर्थ—जब पर्जन्य जल से पृथिवी की रक्षा करता है तब वात बड़े जोर से चलते हैं। विद्युत् गिरती हैं या चमकती हैं। ओषधियाँ निकलती हैं। आकाश भर जाता है। पृथिवी सर्वप्राणियों के हितार्थ समर्थ होती है॥ ४॥ जिस पर्जन्य के व्रत से यह पृथिवी पानी के नीचे हो जाती है, अर्थात् पृथिवी के ऊपर पानी भर जाता है, जिसके व्रत से चतुष्पद जन्तु सुपुष्ट होते हैं, जिसके व्रत से नाना वर्ण, रंगरूप की ओषधियाँ उत्पन्न होने लगती हैं, वह पर्जन्य हम लोगों को बहुत सुख देता है॥ ५॥ जब यह मेघ बहुत चिल्लाता और गरजता हुआ दुर्भिक्षादि दुष्कृतों का निवारण करता है तब पृथिवी पर जितने स्थावर-जङ्गम पदार्थ हैं, वे सभी मुदित होते हैं॥ ९॥ पुनः—

तिस्रो वाचः प्र वद ज्योतिरग्रा या एतद् दुह्रे मधुदोघमूधः।
स वत्सं कृण्वन्गर्भमोषधीनां सद्यो जातो वृषभो रोरवीति॥ १॥
स रेतोधा वृषभः शश्वतीनां तस्मिन्नात्मा जगतस्तस्थुषश्च।
तन्म ऋतं पातु शतशारदाय यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ६॥

—ऋ० ७/१०१

अर्थ—जिस पर्जन्य में (ज्योतिरग्राः) विद्युत् जिसके आगे-आगे है, ऐसी (तिस्रः वाचः) तीन प्रकार की इडा, सरस्वती, भारती वाणी (प्रवद=प्रवदन्ति) बज रही है। (याः) जो वाणी जहाँ (एतत्) इस

---

१. ऋ० ५।८३।४,५,९

(मधुदोघम्) मधुर-जल-प्रद (ऊधः) मेघ-रूप-स्तन को (दुहे) दूह रही है, (सः) वह पर्जन्य (वत्सम्) साथ बसनेवाले बच्चे वैद्युत् अग्नि को (कृण्वन्) प्रकट करता हुआ और उसी को (ओषधीनाम्) व्रीहि, लता, वनस्पति प्रभृतियों का (गर्भम्) गर्भ बनाता हुआ (सद्यः) शीघ्र (जातः) चारों ओर उत्पन्न हो (वृषभः) बरसता हुआ (रोरवीति) अत्यन्त चिल्ला रहा है॥ १॥ (सः) वह पर्जन्य (शश्वतीनाम्) नानाविध ओषधियों का (रेतोधाः) जलविधाता और (वृषभः) सेचन करनेवाला है, (तस्मिन्) उस जीवन-भूत मेघ के आश्रित (जगतः+तस्थुषः) स्थावर और जङ्गम का (आत्मा) शरीर है। (तत्+ऋतम्) वह पर्जन्य से निःसृत जल (शतशारदाय) सौ वर्ष अर्थात् जीवनभर (मा) मुझे (पातु) पाले। जिस प्रकार ये प्राकृत पदार्थ पर्जन्य, वायु, मरुत्, ओषधि, जल, चन्द्र, सूर्यप्रभृति हमारी रक्षा करते हैं, वैसे ही हे मनुष्यो! (यूयम्) आप लोग भी (सदा) सर्वदा (नः) हमारी (स्वस्तिभिः) विविध कल्याणकारी उपायों से रक्षा करें। हम भी आपकी रक्षा करें, इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे के रक्षक बनें॥ ६॥

इन दोनों ऋचाओं में मेघ के विशेषण में वृषभ शब्द आया है। इससे सिद्ध हुआ कि मेघ को वृषभ वा वृष कहते हैं, परन्तु आधुनिक संस्कृत में बैल का ही नाम प्रायः वृषभ आता है—

उक्षा भद्रो बलीवर्द ऋषभो वृषभो वृषः॥

—अमरकोश।[1]

वृष शब्द अन्यार्थ में भी आता है। जैसे—

शुक्रले मूषिके श्रेष्ठे सुकृते वृषभे वृषः॥

—अमरकोश।[2]

इसी हेतु विद्याविलासी पुरुषो! वज्र-स्थानीय रुद्र का वृषभ वाहन माना गया है। यह शङ्का हो सकती है कि जैसे विष्णु और ब्रह्मा के वाहन पक्षी कल्पित हैं, वैसे किसी अन्य नाम के साथ योग लगा महादेव का भी पक्षी ही वाहन कल्पित क्यों नहीं किया? इसका समाधान यह है कि मेघ का खास गुण वर्षा करना ही है। वेद में सींचने के अर्थ में इसका प्रयोग बहुत आया है। मनुष्य आदि

---

१. अमर० द्वितीयं काण्डम्, वैश्यवर्ग ९।५९

२. अमर० तृतीयं काण्डम्, नानार्थवर्ग ३।२२०

सभी पुरुष वृषभ नाम से पुकारे गये हैं। सूर्य को भी वृषभ कहा है। जैसे पुरुष गर्भाधान कर विविध सन्तान उत्पन्न करते हैं, तद्वत् यह मेघ भी पृथिवीरूप स्त्रीशक्ति में वीर्याधान करके ओषधि रूप असंख्य सन्तान उत्पन्न करता है। इस हेतु यथार्थ में मेघ ही वृषभ है। वृषभ शब्द की मुख्यता इसी में है। अन्यत्र यह गौणभाव से प्रयुक्त हुआ है। इस मुख्यता को लक्ष्य में रखकर रुद्र का वृषभ वाहन माना गया है।

रुद्र और गङ्गा

अब हम लोग अच्छे प्रकार समझ सकते हैं कि रुद्र की जटा में गङ्गा की स्थिति क्योंकर मानते हैं? मेघस्थ वज्रात्मक अग्नि का नाम रुद्र है, यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध है। इसे विद्युद्देव भी कहते हैं। आप देखते हैं कि यह विद्युद्देव जल से पूर्ण रहता है। मेघजल के अभ्यन्तर ही इनका निवास है, मानो यह रुद्र=वज्रात्मक अग्निदेव बैठे हुए हैं। इनपर पर्जन्य धाराएँ गिरा रहे हैं। यही मेघधारा गङ्गा है। जहाँ यह मेघस्थ विद्युद्देव रहेंगे वहाँ अवश्य ही मेघधारा भी रहेगी, इसी हेतु महादेव के साथ-साथ गङ्गादेवी भी लगी हुई हैं। इसमें अन्य भी कारण प्रतीत होता है। मैंने आप लोगों से कहा है कि जैनमत के पश्चात् त्रिदेव की सृष्टि हुई है। उस समय देश में अज्ञानता अधिक विस्तृत थी। प्रत्येक पदार्थ का अधिष्ठातृदेव विश्वासपूर्वक माना जाता था। इस नियम के अनुसार मेघ का अधिष्ठातादेव भी रुद्र माना जाता था। यद्यपि यह रुद्र वज्र वा विद्युद्देव है तथापि यहाँ पर समझना चाहिए कि क्या वज्र, क्या विद्युत्— ये सब स्थूल और विनश्वर वस्तु हैं। इन सबका शासक जो एक चेतन और अमरशक्ति है, उसका नाम 'रुद्र' है।

पौराणिक समय में ऐसा ही अधिष्ठातृदेव माना जाता है। इस नियम के अनुसार वज्र एक भिन्न वस्तु और वज्र का अधिष्ठाता भिन्न वस्तु है। वज्र जड़ है। अधिष्ठाता चेतन और अमर है। यद्यपि यह सब अज्ञानता मूलक और अवैदिक ही है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु इसी अज्ञानता के मूलाधार पर इन देवों की सृष्टि हुई है। इसी हेतु हमें वैसा ही मानकर संगति लगानी पड़ती है, अतः आप समझें कि आकाश अब अभ्र-रहित हो गया। विद्युत् अब नहीं रही। अशनि का भी कुछ पता नहीं रहा। अन्तरिक्ष सर्वथा स्वच्छ दीखता है, परन्तु इस अवस्था में भी रुद्रदेव आकाश में विद्यमान हैं, क्योंकि वह चेतन

और अमर हैं। वे अपने स्थान पर सदा स्थिर रहते हैं। अब आप सोचें कि प्रजाएँ पर्जन्यदेव की जलार्थ आराधना कर रही हैं? वर्षा ऋतु भी आ गई है। धाराधर इतस्ततः आने लगे। आप पूछ सकते हैं कि ये धाराधर कहाँ से आ गये। निःसन्देह जो एक चेतन, अमर रुद्र देव हैं, उन्होंने ही अपनी मेघ की विभूति फैलानी आरम्भ की है, मानो इसकी जटाएँ इतना पानी अपने भक्तों को दे देता है, जिससे पृथिवी पर धाराएँ गिरकर प्राणियों की रक्षा होती है। यह एक स्वाभाविक विषय है कि जिस मेघ को देव माना जाएगा वह अक्षय व असंख्य का स्वामी भी बनाया जाएगा। इस देव की जटा भी शतकोटि, अर्थात् जगत् के बराबर मानी गई हैं। इसी हेतु इसको "धूर्जटि" कहा है। इसी जटा के अभ्यन्तर जलसमुद्र जो अक्षय और प्रलय तक रहनेवाला है, प्रवाहित हो रहा है। जब वह चाहता है तब जटा खोल देता है। जगत् में पानी-ही-पानी हो जाता है। पुनः जटा समेट लेता है। वर्षा बन्द हो जाती है, परन्तु इसमें अज्ञानता की बात यह है कि जल को एक स्थान में एकत्र मान लिया है। सूर्य की उष्णता से जो मेघ बनता है यह ज्ञान इसमें लुप्त हो जाता है। प्राचीन पौराणिकों ने इसके लिए उपायान्तर सोच रक्खा है। गङ्गा की उत्पत्ति प्रथम विष्णु के चरण से मानी है। वहाँ से निकलकर महादेव की जटा में आती हैं। तब वहाँ से पर्वतों पर, तब पृथिवी पर इसी हेतु गङ्गा को विष्णुपदी कहते हैं। विष्णु के पैर से निकली है। यह वर्णन अधिकतर प्राचीन पौराणिक प्रतीत होता है।

अब प्रथम क्षणमात्र गङ्गा की उत्पत्ति पर ध्यान दीजिए। सगर महाराज के सन्तान कपिल ऋषि से दग्ध होकर भस्म होते हैं, पश्चात् भगीरथ की तपस्या से विष्णु के चरण से गङ्गा निकलती हैं, महादेव इसको अपनी जटा में रख लेते हैं। तत्पश्चात् भगीरथ की प्रार्थना से वहाँ से निकलती है। सगर के सन्तानों की चिता को शुद्ध करती हुई समुद्र में गिरती है। इतना ही सम्पूर्ण कथा का सार है। आख्यायिकाप्रिय जनो! हम आप लोगों से अन्तरिक्ष (आकाश) के नाम सुना चुके हैं। निघण्टु १।३ देखिए। अम्बरम्, वियत्, सगरः, समुद्रः, आदि षोडश अन्तरिक्ष नाम हैं। इसमें सगर शब्द विद्यमान हैं। अब आप विचार कीजिए सगर जो आकाश उसके सन्तान कौन हैं। यद्यपि इसके सन्तान अनेक हैं, तथापि इसके प्रधान सन्तान मेघ हैं। वेद में भी कहा है—

पर्जन्याय प्र गायत दिवस्पुत्राय मीळ्हुषे। स नो यवसमिच्छतु॥ १॥
यो गर्भमोषधीनां गवां कृणोत्यर्वताम्। पर्जन्यः पुरुषीणाम्॥ २॥

—ऋ० ७/१०२

यहाँ पर्जन्य, अर्थात् मेघ के लिए (दिवस्पुत्र) शब्द आया है। सायण कहते हैं—(दिवऽन्तरिक्षस्य पुत्राय), अर्थात् अन्तरिक्ष का पुत्र। इससे सिद्ध हुआ कि सगर के पुत्र ये मेघ हैं। ये मेघ वर्षा ऋतु में निरन्तर जगत् में भ्रमण करना आरम्भ करते हैं। कपिल नाम अग्नि का है। इसी कारण अनेक स्थलों में कपिलाचार्य को अग्न्यवतार माना है। यहाँ कपिल से आग्नेयशक्ति का ग्रहण है। वह आग्नयेशक्ति वर्षा के अन्त में उन सब सगर सन्तानों (मेघों) को सोख लेती है। यही कपिलकृत सन्तानों का भस्म होना है। अब मानो सगर (आकाश) व्याकुल हो रहे हैं। कुछ दिनों के पश्चात् ग्रीष्मऋतु व्यतीत होती है। वर्षा का आरम्भ होता है। यही भगीरथ का जन्म लेना है। भग नाम सूर्य का है। रथ नाम रमणीय वस्तु का है। पृथिवी के लिए सूर्य की रमणीयता विशेषकर वर्षा है। हम कह चुके हैं कि विष्णु नाम सूर्य का है। विष्णु के चरण, अर्थात् किरणों की उष्णता से पृथिवी पर अधिक जलीय वाष्प होने लगती है। यही गङ्गा का विष्णुपद (चरण) से निकलना है और पर्वत (मेघ) पर स्थिर रुद्र (विद्युद्देव) की जटा में आकर गङ्गा का भ्रमण करना है। जटा में, अर्थात् पर्वत (मेघ) पर आई, अर्थात् जल मेघाकार में प्रस्तुत हुआ तब इतस्ततः भ्रमण कर पर्वत (मेघ) से निकल जगत् में वर्षकर प्राणिमात्र को सुख पहुँचाने लगा। अन्त में पुनः समुद्र में जाकर लीन हो गया। धारारूप जो मेघ का इतस्ततः भ्रमण है, यही गङ्गा का सगर सन्तानों की चिता का शुद्ध करना और पृथिवी पर प्रवाहित होना है। अब आप समझ गये होंगे कि गङ्गा को क्यों विष्णुपदी कहा है और महादेव की जटा में निवास माना है।

गङ्गा शब्द की व्युत्पत्ति और सगर

"**इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वती**" इस ऋचा के व्याख्यान में यास्काचार्य "गङ्गा गमनात्" गमनार्थक "गम्" धातु से गङ्गा का नाम सिद्ध मानते हैं। मेघस्थ जलधारा भी गमन करती है, इस हेतु धारा ही गङ्गा है। "गच्छतीति गङ्गा"। नाड़ीप्रभृति का भी नाम गङ्गा है। क्या ही शोक की बात है जिस अभिप्राय से यह आख्यायिका बनी थी, वह आज नहीं है। सगर की कथा को लोग यथार्थ समझने

लगे। क्या यह सम्भव है कि एक राजा को साठ सहस्र पुत्र हों और वे कपिल के शाप से तत्काल भस्म हो जाएँ। गङ्गा का विष्णु के पद से निकलना और रुद्र की जटा में आना, इत्यादि वर्णन सूचित करता है कि यह कथा मेघ की है। पुनः सगर नाम ही बताता है कि यह वर्णन आकाश का है। इस प्रकार गङ्गा और रुद्र का संयोग हमें दृढ़ करता है कि रुद्र नामधारी महादेव विद्युत् स्थानीय हैं। धर्म, सत्य प्रेमियो! कैसा अन्धकार देश में प्रचलित है कि गङ्गा आदि की उत्पत्ति यथार्थ मान पदे-पदे ठोकर खा रहे हैं। इत्यलम्।

रुद्र और भस्म आदि भूषण

रुद्र और भस्म—अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो गया है कि महादेव अग्नि के, विशेषतया मेघस्थ अग्नि के प्रतिनिधिस्वरूप हैं। इस हेतु अब सूत्ररूप से मैं लिखता हूँ। भाष्यवत् इसको आप लोग कर लेवें। महादेवजी सदा भस्मविभूषिताङ्ग वर्णित हुए हैं। आग्नेयशक्ति का कार्य ही प्रत्येक वस्तु को दग्ध कर=भस्म कर देना है, परन्तु भस्म शब्द के अर्थ जला देना और राख=छार दोनों ही हैं। अतएव जब शिवजी अग्नि के प्रतिनिधि मूर्त्तिमान् देव विरचित हुए तब यह स्वाभाविक है कि इनका चिह्न भस्म रक्खा जाए। इसी कारण महादेवजी की मूर्त्ति भस्मविभूषित बनाई जाती है और इसी हेतु शङ्करजी श्वेत माने गये हैं, अन्यथा तमोगुणी शिवजी का कृष्णरूप होना चाहिए, परन्तु यहाँ विपरीत देखते हैं। इससे सिद्ध है कि यह महादेव अग्नि स्थानीय हैं। इसी कारण शैवसम्प्रदायी भी देह में भस्म लगाया करते हैं और इसके सहस्त्रों माहात्म्य गाते हैं। आह! कैसी अज्ञानता छाई हुई है।

रुद्र और सर्प—सर्प को 'अहि' भी कहते हैं, परन्तु 'अहि' यह नाम मेघ और पानी का भी है। निघण्टु १।१० में अद्रि, ग्रावा, अहि, आदि ३० नाम मेघ के देखें। इसी के अनन्तर निघण्टु १।१२ में १०१ एकसौ एक नाम उदक (जल) के आये हैं। इनमें से कतिपय प्रयोजनीय नाम उद्धृत कर देते हैं। यथा—

अर्णाः। कबन्धम्। विषम्। अहिः। सरः। भेषजम्। शवः। भूतम्। अमृतम्। इन्दुः। शम्बरम्। कृपीटम्। जलाषम्। इत्यादि—

इसमें आप देखते हैं कि विष, अहि, शव, भूत, इन्द्र, शम्बर आदि नाम आ गये हैं। आजकल विष को माहु, जहर, गरल आदि,

अहि को साँप, शव को मुर्दा, इन्दु को चन्द्रमा, शम्बर को दैत्य कहते हैं। वेदों को छोड़ जलार्थ में ये शब्द अब प्रयुक्त नहीं होते। ये ही सब महादेव के साथ उपाधियाँ लगी हुई हैं।

प्रस्तुत विषय की ओर आएँ। अहि नाम जल का भी सिद्ध हुआ। विद्युत् वा मेघस्थ वज्र का भूषण क्या है? निःसन्देह यदि मेघरूप जल न हो तो इनके अस्तित्व में ही सन्देह रहेगा। इस हेतु विद्युद्देव का भूषण 'अहि' अर्थात् जल वा मेघ है। विद्युद्देव स्थानीय शिवजी का भूषण अहि अर्थात् साँप है। इसी प्रकार विष, भूत, शव, चन्द्र आदि की भी व्यवस्था समझ लेवें, क्योंकि ये सब नाम जल के भी हैं। शम्बर एक दैत्य का भी नाम है, इस बात को आगे लिखेंगे।

रुद्र और चर्म—यद्यपि रुद्र दिगम्बर हैं, इनका वस्त्र व्याघ्र वा गजचर्म माना गया है। "मृत्युञ्जयः कृतिवासाः" अमर०॥ इसका भी कारण मेघस्थ अग्नि है। आप वर्षा समय में आकाश की ओर देखें। कभी-कभी हाथी के चर्म के समान मेघखण्ड प्रतीत होते हैं। कभी व्याघ्रचर्म सदृश। ये ही चर्म-समान मेघखण्ड मेघस्थ कुमार रुद्र (अशनिदेव) के वस्त्र हैं। जब रुद्र एक पृथक् देव सृष्ट हुए तब तत्सदृश गजचर्म वा व्याघ्रचर्म इनको वस्त्र दिये गये। वेदों में भी यह वर्णन आया है—

मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव। परमे वृक्ष आयुधं निधाय कृत्तिं वसान आ चर पिनाकं बिभ्रदागहि॥

—यजुः० १६/५१

पर्जन्यदेव में विशेषकर दो गुण हैं। एक तो वे वृष्टि देकर रक्षा करते हैं दूसरे अपने वज्र से हम लोगों पर प्रहार भी करते हैं। इस हेतु ईश्वर से प्रार्थना के द्वारा आशा की जाती है कि हे भगवन्! हे विद्युत् हम जीवों के प्रति कल्याणप्रद होवें। इनके जो तीक्ष्ण आयुध हैं वे कहीं अन्यत्र जहाँ जीव न होवें, वहाँ गिरें। जो शान्त, शिवतम, मीढुष्टम, अर्थात् बहुत सींचनेवाले पर्जन्यदेव हैं वे 'कृत्तिं वसानः' गजचर्म-समान मेघ से युक्त हो 'पिनाकं बिभ्रत्' जलरूप अस्त्र लेकर 'आगहि' आएँ।

एक बात यहाँ स्मरण रखनी चाहिए कि जब वेद के सम्पूर्ण अर्थ मुख्यतया सूर्य, वायु और अग्नि में ही घटाये जाने लगे और सम्पूर्ण वेद क्रियापरक माने जाने लगे, उसके बहुत पश्चात् इन देवों की सृष्टि हुई है। इस कारण मुझे वे ही अर्थ यहाँ लेने पड़ते हैं, क्योंकि इनके ही आधार पर ये सब देव सृष्ट हैं।

रुद्र और पिनाक

एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽ तीहि।
अवतत धन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासा अहिंसन्नः शिवोऽ तीहि॥

—*यजुः० ३/६१*

महादेव का एक अस्त्र पिनाक माना जाता है। यास्क निरुक्त ३.२१ में पिनाक शब्द के "**पिनाकं प्रतिपिनष्टि अनेन**" जिससे पीसे उसे 'पिनाक' कहते हैं, ऐसा अर्थ करते हैं। जैसे मनुष्य गेहूँ आदि खाद्य वस्तु को पीसने के लिए यन्त्र, चक्की आदि रखता है और उससे खाद्य पदार्थ को सूक्ष्म बनाया करता है, इसी प्रकार मेघस्थ विद्युद्देव में यह प्रत्यक्ष शक्ति है कि जल को वे सूक्ष्म बनाकर पृथिवी पर बरसाते हैं। अन्यथा हम देखते हैं कि मेघ एक महान् पर्वत समान प्रतीत होते हैं। यदि वैसे ही मेघ पृथिवी पर गिरें तो जीव-जंन्तु कैसे बच सकते हैं, छोटे-छोटे ओलों के गिरने से तो यह दशा होती है, यदि बड़े-बड़े मेघखण्ड गिरें तो न जाने जगत् की क्या दशा हो। इस हेतु भगवान् ने अग्नि में जैसे जल को वाष्परूप में लाकर मेघाकार बनाने की शक्ति दी है वैसे ही उस मेघ को सूक्ष्म कर बरसाने की भी शक्ति दी है। इसी आग्नेयशक्ति का नाम वैदिक भाषा में पिनाक है। यह पिनाक मानो मेघस्थ अग्नि का अस्त्र है।

अथ मन्त्रार्थ—यह आलङ्कारिक अध्यारोपित वर्णन है। (रुद्र) हे अशनिदेव! (ते) आपने (एतत्) यह (अवसम्) रक्षा की है, अर्थात् आप हम लोगों पर कृपाकर जो वर्षा करते हैं, वह हम जीवों के प्रति आपका रक्षा-कर्म है। (तेन) इस हेतु सर्वदा (मूजवतः) प्रतिबन्धकों का (अतीहि) अतिक्रमण, अर्थात् त्याग करें, अर्थात् आप जो जलों को अपने में बाँध लेते हैं हम जीवों को नहीं देते, ये जो आपके बन्धन हैं, उन्हें त्याग देवें। 'मज् बन्धने' धातु से मूजवान् बनता है। जीमूत नाम भी इसी कारण मेघ का है। आप (परः) अतिशय श्लाघनीय हैं और आप (अवततधन्वा) विद्युद्रूप धनुषविरहित (पिनाकावसः) पिनाकशक्तियुक्त (कृतिवासाः) श्यामघटारूप, चर्मविभूषित हो (अहिंसन्+नः) हम जीवों की हिंसा न करते हुए किन्तु (शिवः) कल्याणस्वरूप हो (अतीहि) सर्वत्र भ्रमण करें अथवा हमारे निकट अतिशय बारम्बार प्राप्त होवें।

अब आप विचार कर लेवें कि महादेव का अस्त्र पिनाक क्यों माना है? विद्युद्देव की सूक्ष्म करने की शक्ति का नाम पिनाक है।

तत्स्थानीय गुण इसमें भी संगठित करने के हेतु महादेव का पिनाक अस्त्र माना गया है। कैसी युक्ति व्यामोह के लिए रची गई है!

रुद्र और त्रिनयन

जैसे विष्णु में बाहु की, ब्रह्मा में मुख की वैसे ही महादेव में नेत्र की विशेषता है। महादेवजी की तीन आँखें विहित हैं। क्यों? इसमें भी अग्नि ही कारण हैं। इसमें मेघस्थ आग्नेयशक्ति के योग का वर्णन संक्षेप से कर दिया है, अब सम्मिलित अग्नि के योग दिखलाते हैं। हम स्थूलदृष्टि से देखते हैं कि पृथिवी पर एक अग्नि है, जिससे यज्ञ करते हैं, विविध पाक बनाते हैं। बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्र इसी से बनाये जाते हैं, रेलगाड़ी इसी से चलाई जाती है, कभी-कभी भयंकर रीति से जंगलों को यही आग जला देती है। शीत समय में वस्त्र से बढ़कर काम देती है। इस प्रकार पृथिवी पर भी अग्नि की विभूति न्यून नहीं है। अब पृथिवी से ऊपर चलिए। आकाश में भी महान् अग्नि विद्यमान है। मेघस्थ अग्नि अतिभयंकर है। ऐसा तो न पृथिवीस्थ और न द्युलोकस्थ सूर्याग्नि ही है। किस घोर गर्जन और वेग से वैद्युदग्नि दौड़ता है। क्षण में ही कैसा प्रकाश कर देता है। इस रुद्राग्नि का वर्णन व्यतीत हुआ। इससे आगे चलिए।

सूर्यरूप महाग्नि को देखिए। यह अग्नि का महासमुद्र है। इसी का किञ्चित् अंश पृथिवी पर आता है, जिससे भूमि इतनी गरम हो जाती है और उसी के किञ्चित् प्रताप से मेघादि घटना घटित होती रहती है। हे विज्ञानविलासियो! इस प्रकार आप देखते हैं कि हम जीवों की रक्षा के लिए भगवान् ने तीन स्थानों में अग्नि का प्रणयन, अर्थात् स्थापन किया है, अतः अग्नि त्रिनयन है। "**त्रिषु स्थानेषु नयनं प्रणयनं स्थापनं यस्य स त्रिनयनः**", इसी प्राकृतिक-दृश्य के अनुसार यज्ञस्थलों में तीन कुण्डों में तीन अग्नि स्थापित होते हैं। आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि। इस कारण से त्रिनयन, अर्थात् तीन स्थानों में जिसका नयन=प्रणयन=स्थापन हो उसे त्रिनयन कहते हैं। मन्त्रों से यह अर्थ विस्पष्ट होगा, अतः कतिपय ऋचाएँ यहाँ लिखते हैं—

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः॥ ६४॥
नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वात इषवः॥ ६५॥
नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः॥ ६६॥

—यजुः० १६

यहाँ हम देखते हैं कि द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी—तीनों स्थानों में रुद्र, अर्थात् आग्नेयशक्ति की व्यापकता दिखलाई गई है। जो आग्नेय शक्तियाँ द्युलोक में सूर्याकार में हैं वे पृथिवी के लिए वर्षा उत्पन्न करती हैं। ये ही इनके इषु हैं। जो अन्तरिक्ष में हैं वे प्राणिमात्र के प्राण के रक्षार्थ वायु देती हैं। ये ही इनके इषु हैं। जो पृथिवी पर हैं, वे अन्न उत्पन्न करती हैं। ये ही इनके इषु हैं। धन्य हैं ये आग्नेय शक्तियाँ!!!

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन्॥

—ऋ० १०/८८/६

(अग्निः) अग्नि (नक्तम्) रात्रि में (भुवः) संसार का (मूर्धा+भवति) मूर्धा होता है। चन्द्रग्रहण नक्षत्रादिरूप से रात्रि का अग्नि शोभाप्रद होता है। (ततः) तब (प्रातः, उद्यन्+सूर्यः जायते) प्रातःकाल उदित होता हुआ सूर्य होता है और (एताम्) इस अग्नि को (यज्ञियानाम्=मायाम्+उ) यज्ञ करनेवाले मनुष्यों की माया मानते हैं। पृथिवी पर यज्ञ का मुख्य साधन अग्नि ही है (यत्) जो (प्रजानन्) सबको चेताता हुआ (तूर्णिः) अति वेगवान् हो (चरति) सर्वत्र विद्यमान है। अथवा विद्युत् रूप होकर वही अग्नि सबको चेताता हुआ बड़े वेग से विचरण करता है॥

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः॥ १॥
विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम बिभृता पुरुत्रा।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद् विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ॥ २॥

—ऋ० १०/४५

प्रथम यह अग्नि द्युलोक में आदित्यरूप से प्रकाशित हुआ। द्वितीय वह अग्नि पृथिवीरूप से मनुष्य-हितार्थ प्रकट हुआ। तत्पश्चात् तृतीय अग्नि अन्तरिक्ष में मेघों में व्याप्त हुआ। इस अग्नि को ज्ञानवान् पुरुष सदा प्रदीप्त कर यज्ञादि कर्म साधते हैं॥ १॥

अग्नि के जो अग्नि, वायु, आदित्य तीन रूप पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक में वर्त्तमान हैं, उन्हें हम जानते हैं, अग्नि के जो बहुत स्थान 'गार्हपत्य, आहवनीय और अन्वाहार्यपचन' आदि हैं, वे भी हमको विदित हैं। अग्नि का जो परमगूढ़ तत्त्व है वह भी विदित है। अग्नि जहाँ से हुआ है वह भी विज्ञात ही है॥ २॥

इन दोनों ऋचाओं में अग्नि की व्यापकता तीनों स्थानों में वर्णित है। इसके तीन स्थान कहे गये हैं—

तमाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्च।
यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन्॥

—*अथर्व० १५।६।१४*

इस मन्त्र में तीन अग्नियों की चर्चा आती है। वेद में अनेक ऋचाएँ इस सम्बन्ध में आई हैं। त्रिनयन वा त्रिनेत्र शब्द पर विचार कीजिए। अग्नि ही त्रिनयन है। '**त्रिषु स्थानेषु नयनं प्रणयनं स्थापनं यस्य सः त्रिनयनः**', तीन स्थानों में जिसकी स्थापना हो वह त्रिनयन। अग्नि पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक—तीनों स्थानों में स्थापित है। इस हेतु यह 'त्रिनयन' है। यद्वा '**त्रिषु स्थानेषु आहवनीयगार्हपत्य दक्षिणेषु कुण्डेषु नयनं प्रापणं यस्य स त्रिनयनः**'—आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिण अथवा अन्वाहार्यपचन कुण्डों में जिसका प्रापण हो वह त्रिनयन। यज्ञशाला में तीनों कुण्डों में अग्नि को स्थापित करते हैं, इस हेतु अग्नि त्रिनयन है। '**यद्वा त्रयाणां नयनानां ज्योतिषामग्निवाय्वादित्यानां समाहारस्त्रिनयनम्**' अग्नि, वायु, सूर्यरूप तीन नयन, अर्थात् तीन ज्योतियों का जो समाहार, वह त्रिनयन, अर्थात् तीन अग्नि। "**त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी**" यद्वा "**त्रीन् लोकान् नयति निर्वाहयति। यद्वा त्रयाणां लोकानां नयनं ज्योतिः प्रदानेन नयनभूतम्**"। तीनों लोकों का निर्वाह यही करता है, इस हेतु अग्नि त्रिनयन है। यद्वा ज्योति देकर तीनों लोकों का मानो यही नयन=नेत्र है, इस हेतु यह त्रिनयन है।

यहाँ यह विचार की बात है कि सूर्यरूप अग्नि सबका साधारण नयन है। तीनों लोकों में यही ज्योति पहुँचा रहा है। इसी के कारण सब प्राणी देखते हैं। यदि सूर्य न होता तो आँखें रहते हुए भी हम लोग अन्धे बन जाएँ। इस हेतु मुख्यतया अग्नि ही नयन है, अतः अग्नि ही त्रिनयन है। यद्वा बहुत दिनों से यह नियम भी चला आता है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ में अग्नि, अर्थात् अग्निहोत्रादि सकल कर्म का सेवन रहता है, परन्तु चतुर्थ संन्यासाश्रम में अग्नि का त्याग होता है, अतः अग्नि तीन ही आश्रमों में जाता है। "**त्रिषु आश्रमेषु नीयते प्राप्यते स त्रिनयनः**" अतः अग्नि त्रिनयन है, इत्यादि अनेक कारण हैं, जो हमें बतलाते हैं कि अग्नि त्रिनयन है। इस पक्ष में नयन शब्दार्थ नेत्र, आँख नहीं। 'नी' धात्वर्थ केवल प्रापण

है, अर्थात् पहुँचाना "**णीञ् प्रापणे**" नी (To carry) इससे नायक, प्रणयन इत्यादि शब्द बनते हैं।

नयन=दृष्टि—परन्तु नयन शब्द का "दृष्टि" आँख भी अर्थ होता है। इस कारण जब अग्निस्थानीय रुद्रदेव कल्पित हुए तब इनको तीन नयन=आँखें दी गईं। अब आप विचार सकते हैं कि महादेव त्रिनेत्र वा त्रिनयन क्यों हुए। द्व्यर्थक शब्द ही कारण हैं। अग्निपक्ष में नयन का प्रापण आदि अर्थ है। महादेवपक्ष में दृष्टि अर्थ है, जिस हेतु प्रधानतया महादेव आग्नेय स्थानीय है, इस हेतु इसमें नयन की ही विशेषता दी गई है, क्योंकि आग्नेयशक्ति से अधिक लाभ नयन को ही प्राप्त होता है, इत्यादि ऊहनीय है।

रुद्र और त्रिसंख्याकत्व

महादेव "त्रिनयन" है। यह वर्णन अभी हो चुका। त्रिनयन में 'त्रि' यह संख्या विषम है, अर्थात् १, ३, ५, ७, ९, ११, १३ आदि संख्या विषम और २, ४, ६, ८, १०, १२, १४ आदि सम कहलाती हैं। यह विषमता महादेवजी के साथ अनेक प्रकार से लगी हुई है। इनका चन्दन त्रिपुण्ड्र है। महादेव के ललाट पर त्रिरेखा युक्त चन्दन लगाया जाता है। महादेव की पूजा जिस बिल्वपत्र से होती है वह भी त्रिदल युक्त है। इसका नाम ही त्रिपत्र है। पुराणों में बिल्वपत्र से ही महादेव की पूजा का विशेष विधान है। इससे वे बहुत प्रसन्न रहते हैं। वह बिल्वपत्र तीन दलों से संयुक्त होता है। माला इनका रुद्राक्ष कहा गया है। रुद्राक्ष भी तीन रेखाओं से संयुक्त रहता है। इनका अस्त्र त्रिशूल है, जिसमें तीन शूल रहते हैं, इत्यादि महादेव के साथ संख्याकृत विषमता लगी हुई है। दशा की हीनता का भी नाम विषम है। दशा की भी विषमता महादेव के साथ है। नग्नत्व, वा दिगम्बरत्व, श्मशानवासित्व, विषभक्षणत्व, भूत-प्रेत-सहायत्व आदि, परन्तु इनके अन्यान्य भी कारण हैं, जिसका कुछ वर्णन पीछे सर्प प्रकरण में हुआ है। आगे भी कुछ करेंगे।

रुद्र और त्र्यम्बक

अव रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम्। यथा नो
वस्यसस्करद्यथा नः श्रेयसस्करद्यथा नो व्यवसाययात्॥ ५८॥
भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्।
सुखं मेषाय मेष्यै॥ ५९॥ —यजु:० ३/५८-५९

अर्थ—(त्र्यम्बकम्) त्रिलोकपिता (रुद्रम्) दुःखनाशक (देवम्) परमात्मदेव को हम लोग (अव+अदीमहि) अच्छे प्रकार सेवन करें जिस सेवन से प्रसन्न होकर वह रुद्रदेव (नः) हमको (वस्यसः+करत्) अतिशय-निवासी, अर्थात् अच्छे गृहस्थ बनावे। (यथा+नः) जिससे हमको (श्रेयसः+करत्) अत्यन्त श्रेष्ठ बनावे (यथा+नः) जिससे हमको (व्यवसाययत्) व्यवसायी बनावे। अव+अदीमहि। अद भक्षणे। दा दाने। दीङ् क्षये। डुदाञ् दाने। इत्यादि अनेक धातुओं से 'अदीमहि' प्रयोग बन सकता है। उपसर्ग के लगने से अर्थ बदल जाता है। त्र्यम्बक=त्रि+अम्बक। अम्ब एव अम्बकः। अम्ब नाम पिता का है। स्वार्थ में 'क' प्रत्यय है। 'अम्बा' शब्द का प्रयोग माता अर्थ में आजकल भी विद्यमान है। अमरकोश कहता है **'अम्बा माताऽथ बाला स्यात्'**[1] अम्बा नाम माता का है। पाणिनिसूत्र में 'अम्बा' आया है 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः'॥७।३।१०७॥ अम्बार्थ पद से मातार्थ का ग्रहण है। हे अम्ब! हे अक्क! हे अल्ल! इत्यादि। अम्बा का पुलिङ्ग अम्ब होगा। इससे सिद्ध होता है कि अम्ब नाम पिता का है, अतः 'त्रयणां लोकानां अम्बकः पिता त्र्यम्बकः' तीनों लोकों का जो पिता वह त्र्यम्बक। यद्वा अम्ब गतौ। 'त्रींल्लोकान् अम्बति गच्छति व्याप्नोति जानाति वा त्र्यम्बकः' तीनों लोकों में जो व्यापक हो। यद्वा तीनों लोकों वा कालों को जानता हो। यद्वा "अम गतौ। अमति येन ज्ञानेन तदम्बं त्रिषु कालेषु एकरसं ज्ञानं यस्य तम्" तीनों कालों में एक रस ज्ञानयुक्त।

सायणाचार्य—**'त्र्यम्बकं यजामहे'** (ऋ० ७।५९।१२) इस ऋचा के भाष्य में त्र्यम्बक शब्द का अर्थ 'त्रयाणां ब्रह्मविष्णुरुद्राणाम् अम्बकं पितरम्' ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का पिता करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि 'अम्बक' पिता का नाम है और यदि यह रुद्र सम्बन्धी मन्त्र होता तो सायण ने उपर्युक्त अर्थ कैसे किया॥५८॥ आगे गृह-पशुओं के लिए प्रार्थना है—हे भगवन्! आप (भेषजम्+असि) औषधवत् सर्वोपद्रव निवारक हैं, इस हेतु हमारे (गवे+अश्वाय+भेषजम्) गाय और अश्व के लिए औषध दीजिए। (पुरुषाय+भेषजम्) पुरुष के लिए भेषज दीजिए (मेषाय+मेष्यै+सुखम्) भेड़ा और भेड़ी को सुख दीजिए॥५९॥

---

१. अमर० प्रथमं काण्डम्, नाट्यवर्ग ७।१४

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्।
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः॥

—*यजुः० ३।६०*

त्र्यम्बकं से मामृतात् तक ऋग्वेद ७।५९।१२ में भी है। सायण इसका भाष्य इस प्रकार करते हैं—

त्रयाणां ब्रह्मविष्णुरुद्राणामम्बकं पितरं यजामहे इति शिष्यसमाहितो वसिष्ठोऽब्रवीति। किं विशिष्टमित्यत आह। सुगन्धिं प्रसारितपुण्यकीर्तिम्। पुनः किं विशिष्टं पुष्टिवर्धनं जगद्बीज-मुरुशक्तिमित्यर्थः। उपासकस्य वर्धनं अणिमादिशक्तिवर्धनम्। अतस्त्वत्प्रसादादेव मृत्योर्मरणात्संसाराद्वा मुक्षीय मोचय। यथा बन्धनात् उर्वारुकं कर्कटीफलं मुच्यते तद्वन्मरणात् संसाराद्वा मोचय किं मर्यादीकृत्य आमृतात् सायुज्यमोक्षपर्यन्तमित्यर्थः॥

(सुगन्धिम्) जिसकी पुण्यकीर्ति सर्वत्र विस्तृत है। (पुष्टिवर्धनम्) जो विविध आरोग्य, धन, सम्पत्ति आदि का वर्धक है, ऐसा जो (त्र्यम्बकम्) त्रिलोकी का पिता परमात्मा है (यजामहे) उसी को हम सब पूजें। हे भगवन्! (उर्वारुकम्+इव+बन्धनात्) जैसे पकने पर खरबूजा लता-बन्धन से स्वयमेव छूट जाता है, वैसे ही मैं (मृत्योः) मृत्यु से (मुक्षीय) छूट जाऊँ, परन्तु (अमृतात्) अमृत से (मा) नहीं, अर्थात् अमृतस्वरूप आपसे कदापि पृथक् न होऊँ। इतनी प्रार्थना सबके लिए है। आगे केवल स्त्री के लिए प्रार्थना कही गई है (सुगन्धिम्) जो कुसुमादिवत् अत्यन्त सुखकर है (पतिवेदनम्) और जो हमारे स्वामी की भी सर्वदशा को जाननेवाला है, ऐसे (त्र्यम्बकम्, यजामहे) त्रिलोकी के पिता को हम अबलाएँ पूजें। हे भगवन्! (उर्वारुकम्+इव+बन्धनात्) बन्धन से परिपक्व फल के समान (इतः) इस मातृपितृ गृह से (मुक्षीय) छूट जाएँ, परन्तु (अमुतः) पतिकुल से (मा) नहीं।

हे विद्वानो! ऐसे-ऐसे स्थानों में त्रयम्बक पद से त्रिनयनधारी व्यक्तिविशेष अर्थ करना सर्वथा अनुचित है।

रुद्र और पंचवक्त्र—कहीं-कहीं महादेव के पाँच मुख माने गये हैं। प्रत्येक मुख में तीन-तीन नेत्र हैं। यथा—

एकैकवक्त्रं शुशुभे लोचनैश्च त्रिभिस्त्रिभिः।
बभूव तेन तन्नाम पञ्चवक्त्रस्त्रिलोचनः॥ इत्यादि

इस अग्नि का भी विस्तारपूर्वक वर्णन है। वे पाँच अग्नि ये हैं—

१. असौ वाव लोको गौतमाग्निः। तस्यादित्य एव समित्।[1]
२. पर्जन्यो वाव गौतमाग्निः। तस्य वायुरेव समित्।[2]
३. पृथिवी वाव गौतमाग्निः। तस्याः संवत्सर एव समित्।[3]
४. पुरुषो वाव गौतमाग्निः। तस्य वागेव समित्।[4]
५. योषा वाव गौतमाग्निः॥[5] —छान्दोग्य०

द्युलोक, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और स्त्री—ये पाँच अग्नियाँ हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में बहुधा कहा गया है कि अग्नि ही देवों का मुख है, परन्तु विशेषतया सृष्टिप्रकरण में पाँच अग्नि उक्त हैं। इस कारण मानो आग्नेय देवता के ये पाँच मुख हैं, अतः अग्निस्थानीय महादेव के भी पाँच मुख कल्पित हुए।

रुद्र और दो रूप—जैसे विष्णु के शेषशायी, चतुर्भुज, लक्ष्म्यादि सहित एकरूप और दूसरा प्रस्तरशालिग्रामरूप—ये दो रूप माने, पूजे जाते हैं। वैसे ही महादेव को पञ्चवक्त्र, त्रिनेत्र, वृषभारूढ, पार्वत्यादि सहित एकरूप और प्रस्तरनर्मदेश्वर पार्थिव दूसरा रूप है। इसमें सन्देह नहीं कि महादेव के साथ अनेक उपद्रव हैं। जिस प्रकार प्रस्तर की आज सर्वत्र पूजा होती है, वह यथार्थ में विद्युत् का प्रतिनिधि है, इसी हेतु इनकी शान्ति के लिए सर्वदा इनपर पानीय गिरते रहते हैं। इनकी पूजा विशेषकर जल से ही होती है। आपने शिवमन्दिर में देखा होगा कि इनके ऊपर घड़े-के-घड़े पानी डाले जाते हैं। इससे सिद्ध है कि यह विद्युत् के प्रतिनिधि हैं। इस भाव को भूलकर इस शैव-प्रस्तर के विषय में भक्तों ने अश्लील कथाएँ बना ली हैं और इसी हेतु इस प्रस्तर पर चढ़ी हुई वस्तु अग्राह्य, अखाद्य मानी गई हैं। कैसे शोक की बात है! धीरे-धीरे कहाँ तक कथा बढ़ जाती है।

---

१. छान्दोग्य० ५।४।१
२. छान्दोग्य० ५।५।१
३. छान्दोग्य० ५।६।१
४. छान्दोग्य० ५।७।१
५. छान्दोग्य० ५।८।१

रुद्र और एकादश मूर्त्ति

आप लोगों ने पार्थिव शिवपूजा अवश्य की होगी, यह एकादश रुद्रों की पूजा कहलाती है। दश मूर्त्तियाँ कुछ पतली बनाई जातीं और पाँच-पाँच का भाग कर दो पंक्तियों में स्थापित होती हैं। एक मूर्त्ति स्थूल बनाई जाती है जो उन दोनों पंक्तियों के आगे स्थापित की जाती है। इन एकादश रुद्रों की पूजा क्यों होती है ? ये एकादश रुद्र कौन हैं ? संहर्त्ता महादेव तो एक ही है, पुनः ये एकादश कहाँ से आये ? दश प्राण और एक आत्मा इन ग्यारह का नाम रुद्र है, क्योंकि जब ये शरीर से निकलने लगते हैं तब परितः उपविष्ट परिवारों को रुला देते हैं। जिस हेतु ये रुलाते हैं, अतः ये रुद्र कहाते हैं।

यथा—"कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादशः। ते यदाऽस्मात् शरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्ति, अथ रोदयन्ति तद्यद् रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति"॥ —*बृ० उ० ३/९/४*

इसी हेतु इनके स्थान में एकादश रुद्र की पूजा होती है। जो एक स्थूल मूर्त्ति पृथक् रहती है वह आत्मा का और पाँच-पाँच की जो पंक्तियाँ रहती हैं, वे पाँच-पाँच प्राणों के प्रतिनिधि हैं। जिस कारण इनका नाम रुद्र है, अतः महादेव के साथ इनकी पूजा लगाई है।

रुद्र और अष्टमूर्त्ति

ओं सर्वाय क्षितिमूर्तये नमः। ओं भवाय जलमूर्तये नमः। ओं रुद्राय अग्निमूर्तये नमः। ओं उग्राय वायुमूर्तये नमः। ओं भीमाय आकाशमूर्तये नमः। ओं पशुपतये यजमानमूर्तये नमः। ओं महादेवाय सोममूर्तये नमः। ओं ईशानाय सूर्यमूर्तये नमः।

अथाग्निः रविरिन्दुश्च भूमिरापः प्रभंजनः।
यजमानः खमष्टौ च महादेवस्य मूर्तयः।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः। इत्यादि—

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आकाश, यजमान, सोम, सूर्य—ये आठों महादेव की मूर्त्तियाँ मानी जाती हैं और इनके देवता क्रम से सर्व, भव, रुद्र, उग्र, भीम, पशुपति, महादेव, ईशान—कहे गये हैं। यह बात शतपथब्राह्मण षष्ठकाण्ड, तृतीय ब्राह्मण के प्रमाण देकर पूर्व में कुछ वर्णन कर चुके हैं और वहाँ दिखलाया है कि अग्नि की व्यापकता का यह वर्णन है। यहाँ पर यह वर्णन है कि भगवान्

ने अग्नि को उत्पन्न किया, यह अग्नि कहने लगा कि मेरा नाम करो। भगवान् ने उसको रुद्र नाम दिया। पुनः कहने लगा कि मैं इससे अधिक हूँ, और नाम कीजिए। इस प्रकार जब आदित्य सूचक ईशान नाम दिया है, तब इसने कहा कि बस, मैं इतना ही हूँ। इससे अधिक नहीं। यह सिद्ध करता है कि एक महान् अग्नि है जो पृथिवी से लेकर सूर्यपर्यन्त कार्य कर रहा है, इसी हेतु पृथिवी से लेकर सूर्य तक आठों नाम समाप्त हो जाते हैं।

अष्टमूर्त्ति

इंगलिश भाषा में इसी का नाम Electricity है। इसमें सन्देह नहीं कि यह आग्नेयशक्ति ही मुख्य पदार्थ है, जो जगत् को चला रही है। इसी हेतु आग्नेयशक्ति स्थानीय रुद्र में ये आठों गुण स्थापित किये गये हैं। इसमें एक अन्य कारण भी प्रतीत होता है। वसु आठ होते हैं और वसु पृथिवी-देव माने जाते हैं, मुख्यतया अग्नि ही पृथिवीदेव है। वायु अन्तरिक्षदेव और आदित्य द्युलोकदेव हैं। इस हेतु वसुओं के स्थान में भी रुद्रदेव ही बनाये गये। इसमें प्रमाण—

कतमे वसव इति। अग्निश्च, पृथिवी च, वायुश्च, अन्तरिक्षश्च, आदित्यश्च, द्यौश्च, चन्द्रमाश्च, नक्षत्राणि च एते वसवः। एतेषु हीदं वसु सर्वं हितमिति तस्माद्वसव इति। —*बृ०उ० ३।९।३*

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनꣳ रुद्राणां माध्यन्दिनꣳ सवनमादित्यानाञ्च विश्वेषाञ्च देवानां तृतीयसवनम्॥

—*छान्दोग्य उपनिषद् २।२४।१*

अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, नक्षत्र, ये आठ वसु हैं। अन्यान्य प्रकार से भी वर्णन पाया जाता है। वसुओं के लिए प्रातःसवन। रुद्रों के लिए माध्यन्दिन सवन और आदित्यों के लिए तृतीय सवन।

रुद्र और रुद्र की शक्तियाँ

रुद्र और पार्वती—महादेव की अनेक शक्तियाँ वर्णित हैं। सती, पार्वती, काली, अम्बिका, दुर्गा, भवानी, रुद्राणी, मृडानी, गौरी आदि। मैं कतिपय शक्तियों का संक्षेप से निरूपण करता हूँ। मैंने बारम्बार आप लोगों से कहा है कि—पर्वत=अद्रि, ग्रावा=गिरि आदि नाम वैदिक भाषा में मेघ के भी हैं। देखिए निघण्टु १।१०। अब आप समझ सकते हैं कि पार्वती महादेव की पत्नी क्यों मानी गई है।

पर्वते मेघे भवः पार्वती। पर्वतस्य मेघस्यापत्यं स्त्री पार्वती विद्युद्वा। एवं गिरिजादयः॥

पर्वत=मेघ उसमें जो होवे अथवा मेघ की कन्या को पार्वती कहते हैं। मेघ की कन्या कौन है ? विद्युत्। विद्युत् ही के नाम पार्वती, गिरिजा आदि हैं, क्योंकि वह पर्वत (मेघ) से उत्पन्न होती है। यह विद्युत् वज्र-देवता की शक्ति है, अतः वज्रस्थानीय महादेव की पत्नी पार्वती मानी गई है। पृथिवी पर पर्वतों में श्रेष्ठ हिमालय है और जैसे मेघ से जलधारा गिरती है वैसे इस हिमालय से गङ्गा, यमुना आदि अनेक धाराएँ निकलती रहती हैं। पुनः जब मेघ में पानीय रहेगा तभी विद्युत् उससे उत्पन्न होगी। हिमालय में हिमरूप पानीय सदा रहता है। इन कारणों से भूमिस्थ हिमालय की कन्या पार्वतीदेवी कथित है।

रुद्र और काली—इसका भी कारण अग्नि है—

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः।

—*मुण्डकोपनिषद्*[1]

काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुची—ये सात अग्नि की जिह्वाएँ हैं। जब अग्नि के स्थान में एक रुद्रदेव कल्पित हुए तब जो वहाँ जिह्वाएँ थीं, वे यहाँ वनिताएँ (स्त्रियाँ) कल्पित हुईं और जिस कारण 'काली' नाम अग्नि-जिह्वा का है, इसी हेतु कालीदेवी की मूर्त्ति अति लम्बायमान जिह्वा-संयुक्त ही बनाई जाती है। जिह्वा की विचित्रता वा विशेषता आप किन्हीं देवियों में नहीं देखेंगे, इसका कारण यही है कि काली नाम ही जीव का है और अग्नि में प्रक्षिप्त प्रथम आहुति से धूमसंयुक्त काली ज्वाला निकलती है, अतः कालीदेवी की मूर्त्ति अतिकृष्ण-वर्ण मानी गई है।

रुद्र और गौरी

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥

—*ऋ० १।१६४।४१*

इस मन्त्र पर यास्क लिखते हैं "**गौरी रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। माध्यमिका वाग्गौरी**"। भाव यह है कि मेघ में जो महागर्जन होता

---

१. मुण्ड० १।२।४

है, उसका नाम गौरी है। अथवा वाणिमात्र का नाम गौरी है। इस ऋचा के भाष्य में सायण लिखते हैं—"**गौरी गरणशीला माध्यमिका वाक्**" अथवा गरणशीला शब्द ब्रह्मात्मिका वाक् है। इस सबका भाव यही है कि वाणी का नाम गौरी है—

मदच्युत्क्षेति सादने सिन्धोरूर्मा विपश्चित्।
सोमो गौरी अधि श्रितः। —*ऋ० ९।१२।३*

इस ऋचा में भी गौरी शब्द का अर्थ वाणी है। सायण कहते हैं—वाणी के नाम में भी गौरी शब्द का पाठ आया है। देखो निघण्टु १.११। अब आप देखें माध्यामिका (मेघस्थ) वाक् भी मेघस्थ अग्नि की शक्ति है। जब मेघ से अतिवेगवान् हो वज्रदेव निकलते हैं, प्रायः तभी उसके साथ गौरी (अतिगर्जन) होती है, अतः गौरी भी अग्नि की शक्ति है।

छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि 'तेजोमयी वागिति'-वाणी तेजोमयी है, इस हेतु अग्नि-स्थानीय रुद्र की पत्नी गौरी है। गौरवर्णा स्त्री को भी गौरी कहते हैं। विद्युत् गौरवर्ण ही दृष्टिगोचर होती है, अतः विद्युत् अर्थ में गौरी शब्द का प्रयोग प्रायः आता है। इसी हेतु यहाँ भी पार्वतीजी के विशेषण में गौरी पद आता है।

रुद्र और अम्बिका

महादेव की शक्ति एक अम्बिका देवी हैं—

अपर्णा पार्वती दुर्गा मृडानी चण्डिकाम्बिका॥

—*अमरकोश।*[1]

पुराण और तन्त्रों में इनकी बहुत चर्चा है, परन्तु यजुर्वेदभाष्यकर्त्ता महीधर अम्बिका को 'रुद्र-भगिनी' कहते हैं, यथा—

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्त्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा।
एष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः॥ —*यजुः० ३।५७*

इस ऋचा का भाष्य महीधर इस प्रकार करते हैं—

जो सैकड़ों विरोधियों को रुलावे वह रुद्र। हे रुद्र! आप अपनी भगिनी अम्बिका के साथ हम लोगों से प्रदीयमान पुरोडाश ग्रहण करें। यह पुरोडाश आपका ग्रहणीय है। आपके लिए मूकपशु समर्पित हैं।

---

१. अमर० प्रथमं काण्डम्, स्वर्गवर्ग १।३७

महीधर यहाँ यह भी कहते हैं कि अम्बिका रुद्र की बहिन है। इसी के साथ इसका यह भाग होता है। जो यह रुद्र नामक क्रूर देव है, वह जब अपने विरोधी को मारना चाहता है तब इसी क्रूर भगिनी अम्बिका को साधन बना अपने विरोधी को मारता है। वह अम्बिका शरदरूप धर ज्वरादि उत्पन्न कर उस विरोधी को मार डालती है।

पुनः आगे कहते हैं। "**आखुदानेन तुष्टो रुद्रस्तयाम्बिकया यजमानपशून् न मारयतीत्यर्थः**" चूहे के दान से सन्तुष्ट रुद्र उस अम्बिका से यजमान-पशुओं को नहीं मरवाता है। महीधर का क्या ही विलक्षण अर्थ है, पुराण वा तन्त्र तो कहते हैं कि अम्बिका देवी रुद्र की शक्ति और मूषक गणेश का वाहन है, परन्तु महीधर उलटा ही अर्थ करते हैं। इस मन्त्र का यथार्थ अर्थ आचार्य (दयानन्दसरस्वती) ने अपने यजुर्वेदभाष्य में किया है। यद्वा अध्यारोप अथवा पुरुषादि व्यत्यय से भी अर्थ होगा, यथा—

स्वसाः—केवल भगिनी का ही नाम स्वसा नहीं है। वेद में साथ रहनेवाले वा गमन करनेवाले पदार्थ का नाम स्वसा है—

मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः।
भ्रातेन्द्रस्य सखा मम॥ —ऋ० ६/५५/५

इस मन्त्र की व्याख्या में यास्क कहते हैं—

उषसमस्य स्वसारमाह साहचर्याद्वा रसहरणाद्वा॥

—निरु० ३/१६/६

सूर्य की स्वसा उषा (प्रातःकाल) है, क्योंकि दोनों साथ रहते हैं। सूर्य की कोई बहिन नहीं, पुनः प्रातःकाल, अर्थात् उषा इसकी स्वसा कैसे हुई? इससे सिद्ध है कि मनुष्य की बहिन के समान यह स्वसा नहीं है।

अम्बिका—जल के समूह का नाम 'अम्बिका' है, अर्थात् मेघधारा। अम्बूनां समूहः अम्बिका। आखुः आशु—शीघ्र कार्य करनेवाला। अथवा खेत को खोदने आदि का कार्य करनेवाला। पशु—यह स्मरण रखने की बात है कि रुद्र का एक नाम पशुपति है, क्योंकि जल देकर यह पशुओं की रक्षा करता है। रुद्रनाम पर्जन्यदेव वज्र का है।

अब सम्पूर्ण मन्त्र का यह अर्थ हुआ (रुद्र) हे पर्जन्यदेव! (एष+ते+भागः) यह पृथिवी आपका भाग है। इस हेतु आप (स्वसा) साथ गमनवाली (अम्बिकया) शुद्ध जलधारा के (सह) साथ (तम्)

उस पृथिवीस्वरूप भाग का (जुषस्व) सेवन, अर्थात् रक्षण करें। (रुद्र) हे रुद्र! निश्चय (एषः+भागः+ते) यह पृथिवी आपका ही भाग है। केवल पृथिवी ही नहीं, किन्तु (आखुः) खोदने आदि व्यापार करनेवाले (पशुः) पशु भी (ते) आपके ही हैं। जाति में यहाँ एक वचन है। (स्वाहा) ईश्वर की आज्ञा प्रतिपालित होवे, अर्थात् ईश्वर की जो यह आज्ञा है कि पर्जन्यजल से पृथिवी का पालन करे, विविध ओषधियाँ उत्पन्न करे, जिससे पशु पुष्ट हों और गृहस्थ कार्य-सम्पादन-क्षम होवें। यह सब तब हो सकता है जब पर्जन्यदेव बरसें। रुद्र से पशुरक्षा के लिए अनेक प्रार्थनाएँ हैं और अन्यत्र कहीं उक्त नहीं है कि चूहा रुद्र का भाग है। इस हेतु यहाँ योगिक अर्थ करना ही सर्वसिद्धान्त है। पुनः—

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा।
अम्बे अम्बिकेऽ म्बालिके न मा नयति कश्चन।
ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्॥

—यजुः० २३।१८

इस मन्त्र में अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका शब्द क्रमशः माता, पितामही, प्रपितामही वाचक हैं। आचार्यकृत भाष्य देखिए अम्बा शब्द से भी अम्बिका बनता है। माता अर्थ में भी इसका बहुधा प्रयोग आया है।

रुद्र और सती—सती की आख्यायिका बड़ी विलक्षण है। दक्ष प्रजापति की यह दुहिता कही गई हैं। महादेवजी से इनका विवाह हुआ। अपने पिता के अनुचित व्यवहार से वह सतीदेवी यज्ञकुण्ड में भस्म हो गईं। पुनः हिमालय पर्वत की कन्या होकर महादेव की अर्द्धाङ्गिनी हुईं। इतना ही कथा का सारभाग है। हे विद्वानो! ऐसे स्थलों में दक्षनाम सूर्य का ही है—

आदित्यो दक्ष इत्याहुः। आदित्यमध्ये च स्तुतः।

—निरु० दै० ५।२३।२

यास्काचार्य कहते हैं, दक्ष नाम सूर्य का है। द्वादश आदित्यो में एक दक्ष आता है। निपुण, तीक्षण को दक्ष कहते हैं, अर्थात् ग्रीष्म ऋतु के सूर्य का नाम दक्ष है। सूर्य भगवान् पर्जन्यदेव रुद्र को अपनी उष्णतारूपा सतीशक्ति (पुत्री) देते हैं। कभी-कभी वैशाख-ज्येष्ट में भी उष्णता के योग से मेघ और उसमें विद्युत् होती है। यही सती देवी का रुद्र के साथ स्वल्पकाल निवास है। सूर्य दिन-दिन मेघ

शोषण करने में परम दक्ष हो जाते हैं। वे जगत् को प्रचण्ड तथा तपाना आरम्भ करते हैं। आकाश सर्वथा शुष्क हो जाता है। सूर्य के कारण से प्रथम मेघ बना था और विद्युत् उत्पन्न हुई थी, वह रुद्र की सतीदेवी थी, और इसी से रुद्रदेव की प्रसन्नता थी। अब सूर्य तो जगत् के कल्याणार्थ ही तापनरूप यज्ञ रचता है, परन्तु इस यज्ञ से विद्युत् की हानि हुई, क्योंकि मेघ तो रहा नहीं, पुनः विद्युत् कहाँ रहे। मेघ के अभाव से विद्युत्पति रुद्र का भी निरादर हुआ। मानो वह मेघस्थ विद्युद्देवी दक्ष (सूर्य) के तापनरूप यज्ञ में पति का निरादर देख भस्म हो गई।

एक बात यहाँ स्मरण रखनी चाहिए कि जिस समय सूर्य पृथिवी को तपाना आरम्भ करता है उस समय पृथिवी अति उष्ण हो जाती है, अतः अग्नि दक्ष के तापनरूप यज्ञ में एक प्रकार से आ जाता है, परन्तु गर्जन करनेवाला मेघदेव रुद्र नहीं आता। उस ग्रीष्म समय में रुद्र का नहीं रहना, यही दक्षकृत रुद्र का निरादर है और यह निरादर सूर्य के कारण से ही हुआ है। इस हेतु सतीदेवी मानो भस्म हो जाती है। मेघ में विद्युत् का न होना ही सती का भस्म होना है। अब पुनः ग्रीष्म ऋतु के बीतने पर वर्षा आई। जो सतीदेवी (विद्युत्) भस्म हो गई थी, पुनः वह पर्वत (मेघ) में उत्पन्न हुई, अर्थात् पुनः मेघ में विद्युद्देवी प्रकाशित होने लगी। अब रुद्र, अर्थात् पर्जन्यदेव उस विद्युद्देवी को अपने शिर पर लेकर पृथिवी पर भ्रमण करना आरम्भ करते हैं। जहाँ–जहाँ सती देवी का अङ्ग गिरता है, वह पवित्र स्थान होता जाता है, अर्थात् जहाँ–जहाँ वृष्टि होती है, निःसन्देह वह स्थान पवित्र होता जाता है। वर्षाऋतु के अनन्तर ग्रीष्म होना और ग्रीष्म के पश्चात् पुनः वर्षा होना है यही दृश्य सती का भस्म होना और जन्म लेना है। शब्द तत्त्ववित् महाशयो! आप लोग इस दृश्य को अच्छे प्रकार विचारें।

रुद्र और अर्धाङ्गिनी

यद्यपि विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र आदि सब पौराणिक देवों की शक्तियाँ हैं, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु रुद्रदेव की शक्ति की बड़ी विलक्षणता है। आप देखते हैं कि एक ही शरीर में आधा भाग स्त्री का और आधा भाग पुरुष का रहता है। भूषण आदि भी इसी के अनुसार सजाये जाते हैं। इसी हेतु रुद्र को अर्धनारीश्वर आदि नामों से पुकारते हैं। तन्त्रसार में कहा है—

नीलप्रवालरुचिरं विलसत् त्रिनेत्रम्।
पाशरुणोत्पलकपालकं शूलहस्तम्॥
अर्धाम्बिकेशमनिशं प्रविभक्तभूषम्।
बालेन्दुबद्धमुकुटं प्रणमामि रूपम्॥

पुनः—

अष्टमी नवमीयुक्ता नवमी चाष्टमीयुता।
अर्धनारीश्वरप्रोक्ता उमा माहेश्वरी तिथिः॥

इसका कारण क्या है? अन्य देवों का ऐसा रूप क्यों नहीं? क्योंकि शक्तियाँ सबकी हैं। क्या महादेव ही अपनी पत्नी को अधिक मानते हैं? उसमें भी अग्नि ही कारण है। देखिए! वायु एक स्वतन्त्र देव प्रतीत होता है, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, जल आदि सभी एक-एक स्वतन्त्र दीखते हैं, परन्तु अग्निदेव स्वतन्त्र नहीं हैं। काष्ठ, पत्थर, मेघ से अग्नि पृथक् नहीं है। इनके ही अभ्यन्तर लीन है। दियासलाई में अग्नि भरी हुई है, वारूद में अग्नि विद्यमान है। काष्ठ के संघर्ष से अग्नि प्रकट होती है। मेघ से लपकती है, परन्तु स्वतन्त्र अग्नि नहीं। यदि काष्ठादि पदार्थ न हों तो अग्नि का आस्तित्व ही नहीं रहेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि अग्निदेव अन्यान्य शक्ति के साथ ही कार्य कर सकते हैं। क्षणमात्र भी अन्यान्य शक्ति से वियुक्त होकर अग्निदेव नहीं रह सकते। इसी कारण विवेकशील पुरुषो! अग्निस्थानीय रुद्रदेव अर्धनारी और अर्धपुरुष माने गये हैं। कैसी विलक्षण रुद्र की सृष्टि है। निःसंशय रुद्ररचियता ने बड़ी-बड़ी युक्तियाँ और दृश्य वर्णन किये हैं।

रुद्र और रोदसी

रथं नु मारुतं वयं श्रवस्युमा हुवामहे।
आ यस्मिन् तस्थौ सुरणानि बिभ्रती सचा मरुत्सु रोदसी॥

—ऋ० ५/५६/८

इस मन्त्र की व्याख्या में "रोदसी रुद्रस्य पत्नी" रुद्र की पत्नी का नाम रोदसी है, ऐसा यास्काचार्य कहते हैं। विद्युत् का नाम रोदसी है। रुद्र की ही शक्ति विद्युत् है। पत्नी पालयित्री शक्ति का नाम है। वेदों में रोदसी वचन का प्रयोग बहुत आया है। इसी प्रकार रुद्राणी भवानी आदि शब्दों की संगति स्वयं लगा लेवें।

रुद्र और चन्द्र

वैदिक भाषा में चन्द्र वाचक जितने चन्द्र, चन्द्रमा, सोम आदि शब्द हैं, वे सोमलता वाचक भी हैं। दो पदार्थों के एक नाम होने से अर्वाचीन संस्कृतभाषा में बड़ा गड़बड़ हुआ है। जहाँ वर्णन है कि सोम वा चन्द्र ओषधियों का अधिपति है, वहाँ लोगों ने सोम चन्द्रादि शब्द से ग्रह-चन्द्रमा का ग्रहण किया है, परन्तु यह बड़ी भूल की बात है। ऐसे-ऐसे स्थल में चन्द्रादि पद से सोमलता का ग्रहण है। ओषधियों में सर्वश्रेष्ठ होने से ओषधिपति, ओषधीश्वर आदि सोमलता ही कहलाती है, न कि ग्रह-चन्द्रमा। रुद्र के शिर पर जो चन्द्रमा की मूर्त्ति बनाई जाती है, यह यथार्थ में सोमलता का सूचक है और सोमपद से सम्पूर्ण वनस्पति का तैलादिशब्दवत् ग्रहण है। इसी हेतु महादेव का एक नाम पशुपति है। शतपथ कहता है—

ओषधयो वै पशुपतिः। तस्माद् यदा पशव ओषधीर्लभन्तेऽथ पतीयन्ति॥ —६/१/३/१२

ओषधि ही पशुपति है। जब पशु ओषधि पाते हैं तभी स्वामी के कार्यक्षम होते हैं।

अब आप समझ सकते हैं कि महादेव के साथ चन्द्रमा क्यों है? महादेव पर्जन्यदेव हैं। वह अपनी वर्षा से विविध गोधूम, यव, वनस्पति आदि खाद्य वस्तु द्विपद-चतुष्पद के लिए पैदा किया करता है। मेघ का यह महान् यश है, अतः पर्जन्यदेव-स्थानीय महादेव के शिर पर यशःस्वरूप चन्द्रमा शोभित है। वेद में सोम और रुद्र शब्द बहुधा इकट्ठे प्रयुक्त हुए हैं, यथा—

सोमारुद्रा धारयेथामसुर्यं प्र वामिष्टयोऽरमश्नुवन्तु।
दमेदमे सप्त रत्ना दधाना शं नो भूतं द्विपदे शं चतुष्पदे॥ १॥
सोमारुद्रा वि बृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश।
आरे बाधेथां निर्ऋतिं पराचैरस्मे भद्रा सौश्रवसानि सन्तु॥ २॥
सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मे विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम्।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो अस्ति तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत्॥ ३॥
तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृळतं नः।
प्र नो मुञ्चतं वरुणस्य पाशाद्गोपायतं नः सुमनस्यमाना॥ ४॥

—ऋ० ६/७४

रुद्र और मरुत—वेदों के कई एक स्थलों में मरुत् को रुद्रपुत्र कहा है। वेदार्थदीपिका में भी कहा है कि "**अजीजन् मरुतः पृश्निपुत्रा रुद्रस्य पुत्रा अपि ते बभूवुः। रौद्रेषु सूक्तेष्वथ मारुतेषु कथाद्वयं श्रूयते तत्रतत्र**"। आग्नेयशक्ति से मरुत् उत्पन्न होता है, अतः यह रुद्रपुत्र माना जाता है।

रुद्र और सुवर्णादि धातु—सुवर्ण, रजत, ताम्र, लोह आदि समग्र धातु आग्नेयशक्ति के कारण ही बनते हैं, अतएव पुराणों में महादेव से इनकी उत्पत्ति मानी है। इसमें जो अश्लील कथा कहते हैं, वे सब महामिथ्या हैं। विष्णु जब मोहिनी रूप धारण कर रुद्र को लुभाते हैं, तब उसके पीछे-पीछे रुद्र दौड़ते हैं। इसका भाव यह है कि विष्णु, अर्थात् सूर्य अपनी शक्ति से जब मोहिनी रूप अर्थात् विद्युद्रूप फैलाता है, तब इसके साथ रुद्र का रहना आवश्यक है। यह भाव न समझकर अवाच्य कथा का वर्णन कर अपने देव को कुत्सित बनाते हैं। हे विद्वानो! विचारो!!

रुद्रप्रस्तर और जलमय पूजा—जैसे विष्णु-ब्रह्मा की मूर्त्ति सर्वावयव-सम्पन्न बनाकर लोग पूजते हैं, तद्वत् शिव की पूजा नहीं देखते। काशी, वैद्यनाथ आदि स्थानों में केवल लम्बायमान हस्तपादादि-रहित प्रस्तर की पूजा होती है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस समय विष्णु की पूजा शालग्राम में होने लगी, उसी समय नर्मदेश्वर की वा शैवप्रस्तर की पूजा चली है। इसके पूर्व त्रिनयन, पञ्चवक्त्र, भस्म विभूषित वृषभारूढ़ इत्यादि अनेक विशेषणसंयुक्त और पार्वतीसहित महादेव की पूजा चली थी। इस शैव-प्रस्तर की पूजा प्रचलित होने का भी कारण सहजतया विदित हो सकता है। पौराणिक समय में सब देवों की पूजा पृथक्-पृथक् होने लगी थी। सभी चेतन देव माने जाते थे। मेघ के गर्जन और विद्युत् के पतन से लोग बहुत कम्पायमान होते थे। विद्युत् का अधिष्ठातृदेव रुद्र माना जाता था। प्रत्यक्ष ही रुद्रदेव को अग्नि से जाज्वल्यमान देखते थे। अब भी देखते हैं। लोग विचारने लगे कि इस देव की शान्ति कैसे हो सकती है। इससे हमारी बड़ी हानि होती है। लोगों ने स्थिर किया कि अग्नि की शान्ति जल से होती है। इसी कारण आप शैवप्रस्तर की पूजा में यह विशेषता देखेंगे कि ब्राह्मण लोग प्रतिक्षण इसके ऊपर जल गिराते ही रहते हैं। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध मन्दिरों में यह नियम है कि किसी बड़े पात्र की पैंदी में छेद कर और उसमें पानी भर शिवप्रस्तर के ऊपर लटका देते हैं। उस छेद से बूँद-बूँद पानी दिनभर शिवप्रस्तर

पर गिरता है। आपने सब देवों की पूजा देखी होगी, परन्तु शैवप्रस्तर की पूजा विशेषकर जल से ही होती है। जो जाता है वह इसपर खूब पानी चढ़ाया करता है। भारतवर्ष में जितने मन्दिर हैं, उनमें जल का ही दृश्य अधिक है और होना भी चाहिए। यह पूजा ही हमें सूचित करती है कि यह प्रस्तर वज्र-स्थानीय है। जब वज्र मेघ से निकल बड़े ज़ोर से चिल्लाता हुआ दौड़ता है, तब इसका रूप अत्यन्त जलता हुआ, अति लम्बायमान लोहदण्ड-सा प्रतीत होता है। हस्तादि अवयव नहीं दीखते, अतएव लोग रुद्रदेव की मूर्त्ति लोहदण्ड के समान ही बना प्राणप्रतिष्ठा कर पूजने लगे। यह शैवप्रस्तर केवल विद्युद्देव का ही प्रतिनिधि है, परन्तु पीछे इसका भी भाव भूल गये। इसको कुछ और ही मानने लगे और अनेक प्रकार की कथाएँ गढ़ लीं। हे विवेकी जनो! वे सब कथाएँ मिथ्या ही हैं। रुद्रदेव-सृष्टिकर्त्ता ने इस प्रस्तर को वज्र का प्रतिनिधि बनाया था। यदि ऐसा न होता तो इस प्रस्तर के साथ जल का इतना बखेड़ा क्यों लगाया जाता। इससे सिद्ध है कि यह प्रस्तर वज्र का प्रतिनिधि है। इत्यलम्।

रुद्र और पार्थिव पूजा—आप देखते हैं कि मृत्तिका (मिट्टी) की मूर्त्ति बनाकर प्राणप्रतिष्ठा कर, प्रतिदिन महादेव की पूजा करते हैं। महादेव की पूजा में इसी का माहात्म्य है। अन्य देवों की मृत्तिकामयी मूर्त्ति बनाकर आह्निक पूजा नहीं होती। इसका कारण यह है कि अग्नि और पृथिवी को भी देव माना जाना ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित है, इस हेतु प्रतिदिन मृत्तिका की मूर्त्ति बनाकर लोग पूजते हैं।

रुद्र और त्रिशूल—मैंने आप लोगों को सिद्ध कर दिखला दिया है कि यह रुद्रदेव केवल विद्युत् वज्र वा अशनि के ही स्थान में नहीं किन्तु समस्त आग्नेशक्ति के स्थान में सृष्ट हुआ है। इसी विद्युत् का नाम इंगलिश में (Lighting) है और जो सर्वव्यापक अग्निशक्ति है उसका नाम (Electricity)। इसमें सन्देह नहीं कि लाइटिङ्ग और इलेक्ट्रिसिटी दोनों एक वस्तु हैं। विद्युत् जहाँ गिरती है वहाँ सब पदार्थ नष्ट-भ्रष्ट—दग्ध हो जाते हैं, यह प्रत्यक्ष है। इस आपत्ति से बचने के लिए प्राचीन विद्वानों ने यह उपाय निकाला था कि धातु निर्मित त्रिशूल यदि बड़े-बड़े मकानों में लगाए जाएँ तो मकानों की बड़ी रक्षा हो सकती है। यह त्रिशूल विद्युत् आकर्षक होता है। अब आप देख सकते हैं कि महादेव के साथ त्रिशूल क्यों कर माना गया

है ? जिस हेतु महादेव विद्युद्देव हैं, अतः इनके साथ त्रिशूल है। यह दिखलाता है कि यदि विद्युत् से रक्षा चाहते हो तो अपने-अपने मकानों में धातुरचित त्रिशूल लगाओ। आजकल माना जाता है कि फ्रैंकलिन नाम के विद्वान् ने इस जगदुपकारी वस्तु को प्रकाशित किया है, परन्तु हमारे यहाँ पहले से ही यह विद्या विद्यमान थी।

Franklin turned his discovery to a great practical account. He suggested that buildings should have lightning conductors, made of metal, through which lightning would pass without any injury to the buildings. The conductors project a little above the buildings, and are pointed to attract the lightning. They are fastened to the buildings by the grass-roads, through which the lightning can not pass, and thus it is conducted safely to the ground.

In some parts of India thunderstorms are frequent and violent. Every year hundreds of lives and much valuable property are preserved through the invention of Franklin.

रुद्र और नग्नत्व—नग्न रहना यह न शास्त्रीय है और न पौराणिक सिद्धान्त है। प्रतीत ऐसा होता है कि जब देश में जैनधर्म की परमोन्नति होने लगी, और योगाचारी आदि जैनाचार्यों ने दिगम्बर पन्थ चलाया तब अज्ञ लोग इनको सिद्ध मानने लगे, उस समय पौराणिकों ने भी विवश होकर अपने देव को नग्न बनाया। पहले से ही महादेव का वेष योगी के समान था। व्याघ्रचर्म, विभूति, सर्प, श्मशान, अर्धाङ्ग आदि उपाधियाँ विद्यमान ही थीं, पीछे इनमें एक और नग्नत्व विशेषण बढ़ा दिया तब से ही महादेव नग्न माने गये, अन्यथा महादेव तो कृत्तिवासा थे, पुनः नग्न कैसे हुए? इस प्रकार दिन-दिन इनके साथ उपाधि बढ़ती ही गई। भैरव भी इनके गण हैं। भयङ्कर जिसका रव (नाद) हो, यह मेघ है। यही भैरव है। कार्तिकेय इनके पुत्र हैं। यह सेनापति कहे गये। मेघों के जो अनेक झुण्ड हैं, वे ही यहाँ सेनाएँ हैं। मानो इस कादम्बिनी (मेघमाला) को अपने वश में करके यथास्थान में जो ले-जाए और तत्-तत् स्थान में पानी बरसाकर पदार्थरूप देवों को लाभ पहुँचाए, वे ही कार्तिकेय हैं। गणेश भी महादेव के पुत्र कहे गये हैं। यह गजानन हैं, जिसने मेघों को पर्वत पर और समुद्रों में लटकते देखा है, उन्हें

बोध हो सकता है कि महादेव-पुत्र गणेश क्यों माने गये हैं। ये मेघ पर्वतों पर हस्ती के समान प्रतीत होते, और उसी प्रकार सूँड लटकाए हुए भासित होते हैं। ये मेघ ही तो गण हुए। उनके जो ईश वे गणेश हैं। यह भी मेघ का ही वर्णन है, इसी प्रकार त्रिपुरदहन आदि की भी संगति आप लोग स्वयं लगा सकते हैं। गणेशादि का निरूपण अन्यत्र दिखाएँगे। यहाँ ग्रन्थ के विस्तारभय से इन सबका वर्णन अभी नहीं किया है। रुद्र-सम्बन्धी जितनी ऋचाएँ हैं, उनका भी अर्थ अन्यत्र प्रकाशित करेंगे। यजुर्वेद षोडशाध्याय सम्पूर्ण रुद्र-सूक्त है। आधिदैविक पक्ष में यह सब वर्णन विद्युद्देव का होता है, आधिभौतिक पक्ष में राजा आदि के वर्णन में घटता है। विद्युत् एक विशेष पदार्थ है। विचारने से यही प्रतीत होता है कि आत्मा और परमात्मा को छोड़ यही एक मुख्य पदार्थ है। वेद ईश्वर-विभूति को दिखलाता है। विद्युत् एक जाग्रत् विभूति है, अतः इसका एक अध्याय में वर्णन आया है। हे रुद्रदत्तादि विद्वानो! ईश्वर की विभूति देख आप ज्ञान प्राप्त कीजिए।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि अग्नि, वायु और सूर्य—ये ही तीन देव मुख्य हैं। यास्क कहते हैं—"**तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः**"। तीन देवता हैं, पृथिवी पर अग्नि। अन्तरिक्ष में वायु और द्युलोक में सूर्य। इन्हीं तीन देवों के स्थान में रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु कल्पित हैं, परन्तु हे विद्वानो! आप देखते हैं कि इन तीनों देवों के चलानेवाला भी कोई एक अन्य महान् देव है—

यो देवेष्वधि देव एक आसीत्॥[१]
द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥[२]
त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडसी॥[३]

वही हम मनुष्यों का पूज्य देव है। हे धीर पुरुषो! इस प्रकार ब्रह्म का चिन्तन आप लोग करें और मिथ्या ज्ञान को त्यागें। ब्रह्म-निरूपण कभी पुनः विस्तार से सुनाऊँगा।

---

१. ऋ० १।१२१।८ २. यजुः० १७।१९
३. यजुः० ३२।५

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ! त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥

—गीता[1]

हे विद्वानो! क्या आप लोगों ने इसका एकाग्रचित्त से श्रवण किया? क्या आप लोगों का भ्रम दूर हुआ!

विद्वांस ऊचुः

नष्टो मोहःस्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

—गीता[2]

हे मान्यवर! हमारा मोह नष्ट हुआ। स्मृति प्राप्त हुई। अब हम लोग सन्देहरहित हुए। यह सब-कुछ आपकी कृपा से हुआ। आज से आपका वचन स्वीकार करेंगे।

हे विद्वानो! हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। आइए ईश्वर की प्रार्थना और सत्य की महिमा गाते हुए इस प्रसङ्ग को समाप्त करें।

त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः।
तुभ्यं यज्ञो वि तायते तुभ्यं जुह्वति जुह्वतस्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मां घेहि परमे व्योमन्॥

—अथर्व० १७।१।१८

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥

—अथर्व० ७।८७।१

आप इन्द्र, महेन्द्र, लोक और प्रजापति हैं। आपके लिए ही यज्ञ करते हैं। हे भगवन्! आप ही सबसे बलवान् हैं। आपकी शरण में हम बद्धाञ्जलि उपस्थित हैं। आप ऐहलौकिक सुख भुगाकर पश्चात् अमृत प्रदान करें। जो सर्वव्यापी, न्यायकारी ईश्वर अग्नि, जल, ओषधियों और वनस्पतियों में व्यापक है, जिसने सम्पूर्ण विश्व रचा है उसी प्रकाशस्वरूप, न्यायकारी देव को नमस्कार होवे।

सत्य की महिमा

१. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

—ऋ० ७।१०४।१२

---

१. गीता १८।७२ २. गीता १८।७३

अर्थ—(चिकितुषे) ज्ञानी चेतन (जनाय) जन के लिए (सुविज्ञानम्) यह सुविज्ञान, अर्थात् जानने योग्य है कि (सत्+च+असत्+च) सत् और असत् दोनों (वचसी) वचन (पस्पृधाते) परस्पर एक-दूसरे को दबाने की ईर्ष्या करते हैं, परन्तु (तयोः) उन दोनों में (यत्+सत्यम्) जो सत्य है और (यतरत्) उन दोनों में जो (ऋजीयः) अतिशय ऋजु, अकुटिल है (तत्+इत्) उसी की (सोमः) भगवान् अथवा राजमन्त्री (अवति) रक्षा करते हैं, और (असत्+आ+हन्ति) असत् का सर्वथा हनन करते हैं॥ १॥

२. न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते॥

—ऋ० ७/१०४/१३

अर्थ—(सोमः) भगवान् (वै+उ) निश्चय ही (वृजिनम्) पापी को (न+हिनोति) नहीं छोड़ते हैं, और (न) न (क्षत्रियम्) पापी क्षत्रिय को छोड़ते हैं, और (मिथुया) मिथ्या वचन (धारयन्तम्) धारण करते हुए, अर्थात् असत्य-भाषी जन को भी नहीं छोड़ते हैं (रक्षः+हन्ति) उस पापी राक्षस का घात करते हैं (उभौ) राक्षस और मिथ्याभाषी दोनों जन (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (प्रसितौ) बन्धन में (शयाति) रहते हैं।

षिञ् बन्धने इस धातु से प्रपूर्वक ''प्रसिति'' बनता है॥ २॥

३. यदि वाहमनृतदेव आस मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने।
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघावाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम्॥

—ऋ० ७/१०४/१४

अर्थ—(अग्ने) हे प्रकाशदेव! (जातवेदः) सम्पूर्ण विश्व-भुवन के जाननेवाले ईश्वर! (यदि+वा) यदि (अहम्) मैं (अनृत-देवः) मिथ्यादेवोपासक (आस) हूँ (वा) अथवा (मोघम्) निष्फल ही (देवान्+अपि+ऊहे) देवों के निकट प्राप्त होता हूँ, हे भगवन्! यदि ऐसा मैं हूँ, तब मुझपर आपकी अकृपा हो, परन्तु ऐसा मैं नहीं हूँ। हे देव! इस हेतु (अस्मभ्यम्) हमपर (किम्+हृणीषे) क्यों आप क्रोध करते हैं। हे भगवन्! (ते) वे (द्रोघवाचः) मिथ्याभाषी जन (निर्ऋथम्) नाश को (सचन्ताम्) प्राप्त होवें॥

अनृतदेव=जिसका देव मिथ्या हो। निर्ऋथा=हिंसा। हम लोग कल्पित, मिथ्यादेव की उपासना छोड़ परमात्मा की उपासना सदा किया करें, जिससे इसके कोप में न पड़ें। आइए, अन्त में पुनः

उस परमगुरु स्वामी श्रीमद्दयानन्द को बारम्बार नमस्कार करें, जो हम सबको अन्धकार से पार करते हैं।

ते तमर्चयन्त—

त्वं हि नः पिता योऽस्माकं विद्यायाः परं पारं तारयसीति।

नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः।

''त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी''

इति मिथिला-देश-निवासि-शिवशंकर-शर्म-कृते

त्रिदेवनिर्णये रुद्र-निर्णयः समाप्तः।

त्रिदेवनिर्णयश्च समाप्तः।

द्वितीयः समुल्लासः समाप्तः।

सन्दर्भ-सूची

पं० शिवशंकर शर्मा 'काव्यतीर्थ'